जीवन-पथ

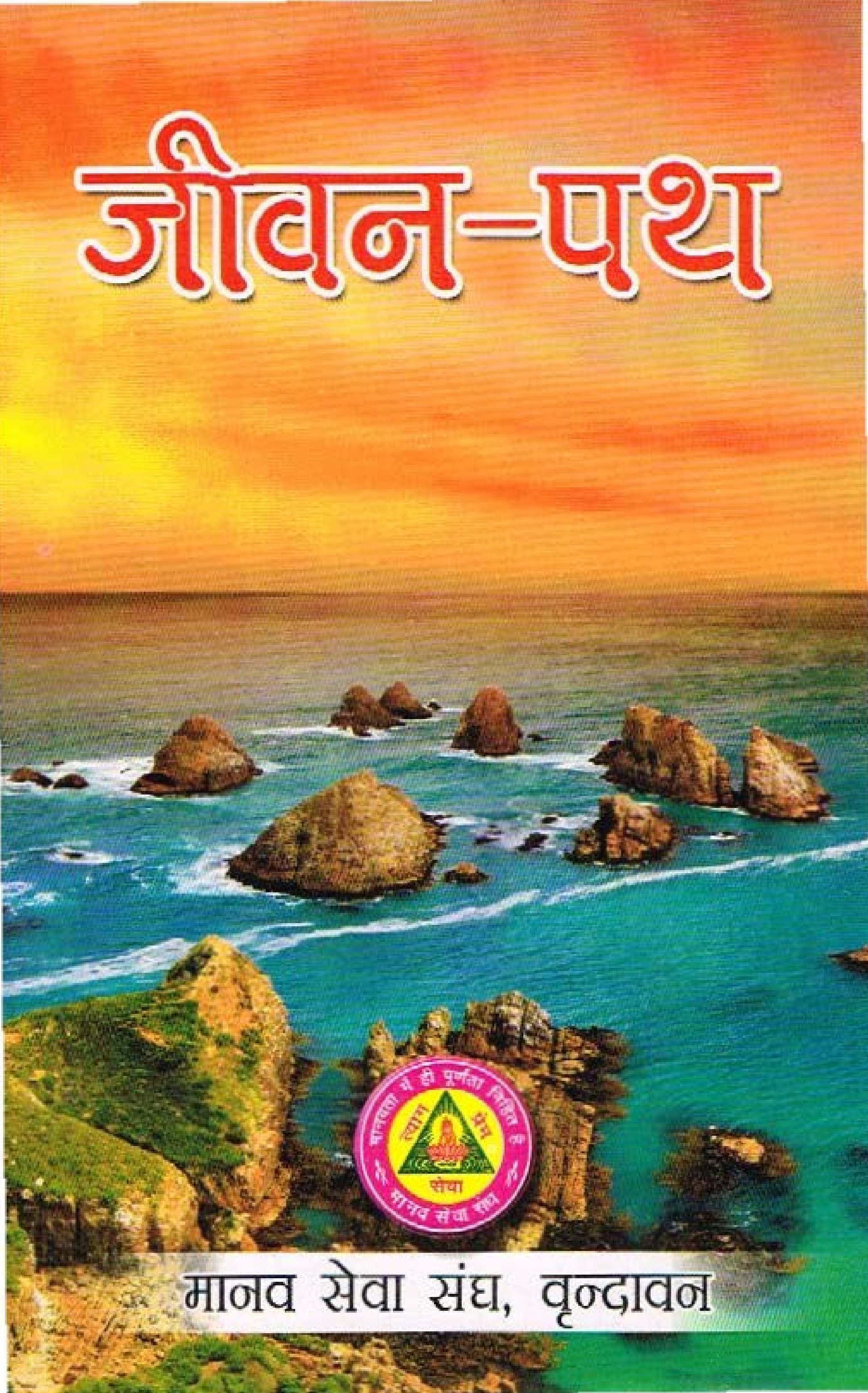

मानव सेवा संघ, वृन्दावन

जीवन-पथ

भाग 2

मानव सेवा संघ के प्रवर्त्तक सन्त ब्रह्मलीन पूज्यपाद स्वामी
श्री शरणानन्द जी महाराज की अमृतवाणी

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)–281 121

● *प्रकाशक :*
मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)
पिन–281 121

● सर्वाधिकार सुरक्षित

● सप्तम् संस्करण
जनवरी, 2014

● मूल्य रु० : 30.00

● मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स
मेरठ।

मानव सेवा संघ के नियम

1. आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर; अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

****

दो शब्द

क्या आपने अपने जीवन में किसी अभाव या अपूर्णता का अनुभव किया है? क्या आप श्रमित-थकित हुए हैं? द्वन्द्व क्या है? क्या पराधीनता महसूस की है? या वैयक्तिक अथवा सामाजिक समस्याओं के मूल में जाने की आवश्यकता से पीड़ित हुए हैं? तो यह 'जीवन-पथ' आपका है।

आपने अनुभव किया होगा कि किसी भी दर्शन में आपकी समस्त आवश्यकताएँ नहीं अँटतीं। एक दर्शन-विशेष कुछ दूर तक आपको दृष्टि देता है और आगे अपनी आँखों देखने को छोड़ देता है, निर्धारित पथ थोड़ी दूर तक आपको मार्ग देता है और आगे अपने पैरों चलने को बाध्य करता है। तब आप प्राय: बेसाथी और बेसामान होने की अकिञ्चनता से त्रस्त हो उठते हैं। पर इस अकिञ्चनता में जगने वाले निज-विवेक के प्रकाश में ही दर्शन की परिणति और जीवन का निर्माण होता है। यहीं वास्तविक जीवन का पथ खुलता है।

इस स्वाध्याय-दर्शन का, जो अपने परिपार्श्व में सर्वथा मौलिक है, विवेचन करने एवं वास्तविक जीवन में एक अन्तर्दृष्टि पाने के लिए मानव-सेवा-संघ की पटना शाखा के तत्त्वावधान में 23-12-1956 से 26-12-1959 तक सत्संग-सप्ताह का आयोजन हुआ था। इस सत्संग-सप्ताह में अपने युग के क्रान्तदर्शी संत की ज्योतित वाणी से जो रस-वर्षण हुआ, उसी का संचय-कोष प्रस्तुत "जीवन-पथ" है।

राँची कॉलेज

30-12-1959

स्नेहाधीन

केसरी कुमार

प्रार्थना

(प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ!
आप अपनी
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायँ।

ॐ आनन्द! ॐ आनन्द!! ॐ आनन्द!!!

भूमिका

हम सब राही हैं। जब से भास हुआ कि हम हैं तब से अपने को चलते हुए ही पाया है। कठिनाइयाँ आती हैं, प्रतिकूलताएँ सताती हैं, मृत्यु भय देती है, नीरसता आती है, थकावट आती है, तब अनुभव करते हैं कि-जिसे हमने पकड़ा, 'मंजिल की वह राह नहीं है'।

हम रुक नहीं सकते, क्योंकि वस्तुस्थिति गतिशील है। अन्तरिक्ष, आकाश, पवन, पानी भीतर-बाहर सब तरफ गति है, अनवरत गति है। हम रुक भी नहीं सकते और गलत राह चलना भी नहीं चाहते, मृत्यु की राह, नीरसता की राह, पराधीनता की राह अपने को अभीष्ट नहीं। हम अमरत्व, सामर्थ्य, सरसता चाहते हैं। क्या करें? किस राह जायँ?

इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत 'जीवन-पथ' है। इसको पढ़कर आप यह अनुभव करेंगे और चकित होंगे कि अरे! कहीं नहीं जाना है। मंजिल से देश-काल की दूरी नहीं है। जीवन अप्राप्त नहीं है। चलने का श्रम तो मृत्यु की राह में है, जीवन की राह में नहीं। पराधीनता तो प्रतीति को जीवन मानने के प्रमाद में है, वास्तविकता में नहीं।

यह विश्वास कि जीवन का पथ है और यह आश्वासन कि वह श्रम-रहित है, प्रस्तुत पुस्तक की एक विशेष देन है।

'दो शब्द' में आपने पढ़ा होगा, 'जीवन-पथ' में प्रतिपादित दृष्टि अपने परिपार्श्व में सर्वथा मौलिक है। इसकी मौलिकता इस बात में है कि-

(क) इसमें जीवन की उन माँगों पर प्रकाश डाला गया है जो मानव-मात्र की अपनी माँगें हैं। जैसे-विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम।

(ख) मानवमात्र की अपनी जो माँग है उसकी पूर्ति अनिवार्य है।

(ग) माँग की पूर्ति, अर्थात् विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम ही जीवन है।

(घ) विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम से अभिन्न होने में मानवमात्र सदा स्वाधीन है, क्योंकि यह श्रमरहित है, इसमें वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति का आश्रय अपेक्षित नहीं है।

प्रतीति की प्राप्ति के प्रयास में अनुभूत पराधीनता से पीड़ित होकर व्यक्ति परमार्थ का पथ ढूँढ़ता हो और वहाँ भी श्रमयुक्त साधन और सीमित व्यक्तित्व का आश्रय पकड़ा दिया जाय, तो लेने के देने पड़ जायें, पराधीनता की बेड़ी कुछ और दृढ़ हो जाय। मानव की इस दुर्दशा से द्रवित होकर 'जीवन-पथ' दिया गया है। इसमें बड़े ही जोरदार शब्दों में बारम्बार यह बात कही गयी है- हे मानव! वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति एवं अवस्था का आश्रय छोड़ो। जीवन तुम्हें प्राप्त है।

श्रम, पराधीनता और नीरसता के नाश के लिए साधन–सामग्री भी प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त है, क्योंकि ऐसी कोई बात नहीं बताई गई जिसके लिए किसी अप्राप्त की अपेक्षा हो। श्रमरहित होने के लिए अचाह, पराधीनता से मुक्त होने के लिए असंगता और नीरसता के नाश के लिए आत्मीयता मूल–मंत्र है। अचाह, असंगता और आत्मीयता को अपनाते ही श्रम, पराधीनता और नीरसता का नाश होता है एवं विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम से अभिन्नता होती है, जो जीवन है। अत: जीवन से अभिन्न होने में किसी प्रकार की पराधीनता किसी को नहीं है। यह बात 'जीवन–पथ' में विभिन्न साधनों की विभिन्न दृष्टियों से उत्पन्न कठिनाइयों को हल करने के लिए अनेक रूपों से बताई गई है।

आप जानते ही हैं–'जीवन पथ' युग के क्रान्तदर्शी सन्त की अमृतवाणी का संचय–कोष है। इसमें सत्संग–सप्ताह के अवसर पर दिए गए 14 व्याख्यान हैं। व्याख्यान विचार–विनिमय की भाषा में सहज भाव से दिए गए हैं। सत्संग–सप्ताह में उद्घाटन के अवसर पर तीन बातें विचार–विमर्श के लिए रखी गई थीं–विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम, क्योंकि मानव–सेवा–संघ की भाषा में ये ही मानव–मात्र की मौलिक माँग हैं, यही जीवन का स्वरूप हैं, अर्थात् जीवन का वास्तविक चित्र हैं।

प्रात:काल सर्वप्रथम सन्त–वाणी द्वारा विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम में से एक–एक पर क्रम से सूत्र–रूप में प्रकाश डाला जाता था। दूसरी बैठक में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विषय के प्रतिपादन एवं प्रश्नों के रूप में उपर्युक्त विषयों पर अपने–अपने भाव प्रकट किये जाते थे जो कि वक्ताओं के निज अनुभव से सम्बन्ध रखने वाले होते थे। सत्संग–सप्ताह का यह उद्देश्य था कि उसमें सम्मिलित होने वाले यदि जीवन की प्राप्ति में अपने को भटकते हुए पा रहे हों, तो उन्हें समारोह समाप्त होने से पहले निर्दिष्ट जीवन–पथ मिल जाय। इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर विभिन्न प्रश्नकर्त्ताओं तथा अन्य व्यक्तियों के जीवन के प्रश्नों का समाधन करते हुए विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम पर व्याख्यान होते थे। व्यक्ति की उलझनों को सुलझाने का प्रश्न प्रधान था। दर्शन के प्रयोगात्मक रूप का प्रतिपादन, व्यक्ति की मौलिक माँग की पूर्ति में पायी जाने वाली कठिनाइयों को हल करने के लिए विभिन्न साधकों की रुचि, योग्यता एवं परिस्थिति के अनुसार अन्तर्दृष्टि दिलाने का प्रश्न प्रधान था। ये व्याख्यान पुस्तक–रूप में प्रकाशित होंगे, ऐसा ख्याल नहीं था।

इसलिए आपको इन व्याख्यानों में विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम का क्रम–बद्ध रूप–निरूपण नहीं मिलेगा और न शुद्ध दार्शनिक विश्लेषण ही, परन्तु जो मिलेगा वह आपके जीवन की बात होगी। मानव–जीवन की यथार्थ

समस्याओं का दार्शनिक समाधान मिलेगा, जिसे अपनाकर मानव–मात्र कृतकृत्य हो सकता है। इसलिए इन व्याख्यानों में विषय–वस्तु का प्रतिपादन दैनिक जीवन की घटनाओं का उल्लेख करते हुए बोल–चाल की भाषा–शैली में किया गया है, जिससे आपको यह स्पष्ट विदित हो जाय कि 'दर्शन' बौद्धिक–विवेचन का विषय नहीं है, प्रत्युत जीवन में चरितार्थ होने का विषय है, पथ का प्रकाश–स्तम्भ है। अनजान पाठक को इन व्याख्यानों को पढ़ते समय कभी–कभी ऐसा मालूम होगा कि जिस विषय को लेकर व्याख्यान आरम्भ किया गया, उस विषय के कुछ पहलुओं पर विशद व्याख्या होने लगी और मूल विषय का सर्वांगीण विश्लेषण छूट गया। व्याख्या में इस तरह के स्थल हैं। वे इसलिए हैं कि प्रश्नकर्त्ताओं के व्यक्तिगत प्रश्नों के उत्तर में सर्वांगीण विश्लेषण नहीं होता, एकांगी होता है, और व्याख्यानों में प्रश्न के उत्तर भी दिये गए हैं। इसलिए कहीं–कहीं पर तारतम्य टूटता हुआ मालूम होता है। परन्तु पूरे व्याख्यानों को पढ़ लिया जाये, तो यह कमी नहीं मालूम होगी। विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम का सभी पहलुओं से पूर्ण विश्लेषण प्राप्त हो जायेगा।

'जीवन–पथ' साहित्यिक कला–कृति नहीं है, वास्तविकता से विमुखता मिटाकर, सम्मुखता कराने की दृष्टि से दिए गए व्याख्यानों का संग्रह है। जगह–जगह पर हमारी वर्तमान दशा का ऐसा मार्मिक चित्रण है कि पढ़कर आँखें खुल जाती हैं। हमारी माँग जैसे मुखर हो उठी है और उसकी प्राप्ति साकार हो उपस्थित है। यही कारण है कि इन व्याख्यानों के संग्रह का पुस्तकाकार प्रकाशित कराने का प्रलोभन हम संवरण नहीं कर सके।

आज व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की दुर्गति को देखकर जो हृदय टूक–टूक हो रहा है, उस हृदय की मूक वेदना के प्रतीक हैं ये वक्तव्य। गहरी आत्मीयता के भाव से पूरित सम्बोधन बरबस आपको खींच लेते हैं। 'जीवन–पथ' की अनेक विशेषताओं में यह अपनेपन का भाव एक प्रमुख विशेषता है। आप इन वक्तव्यों को पढ़ते हुए यह अनुभव करेंगे कि हम सबका दुःख उसका अपना दुःख हो गया है और वह करुणा–विगलित होकर जीवन–पथ दे रहा है। आइए, इसे अपनाकर हम सब कृतकृत्य हो जायें।

विनीता

शिवरात्रि,
25-2-60

देवकी
प्रोफेसर, वीमेन्स कॉलेज,
राँची

प्रवचन
1

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

संकल्प का उद्गम-स्थान अपने व्यक्तित्व की स्वीकृति में है। जगत् क्या है? हम क्या हैं? प्रभु क्या है? जगत् क्या है, यह प्रश्न जगत् में नहीं है। प्रभु क्या हैं, यह प्रश्न प्रभु में नहीं है। यह प्रश्न जिसमें है उसका नाम है अहम्, हम। इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठे कि यहाँ मैं, शास्त्रीय आत्मा या जीव के अर्थ में जो अहम् आता है, उसका विरोध करता हूँ। किसी ने आत्मा कहा, किसी ने ब्रह्म कहा। दो ही बातें आपने सुनी होंगी शास्त्रों में, तीसरी बात नहीं सुनी होगी। शंकर-दर्शन ने ब्रह्म कह दिया; वैष्णव, जैन आदि ने आत्मा कह दिया। लेकिन हम और आप आत्मा होकर कोई प्रश्न करते हैं क्या? या ब्रह्म अथवा शरीर होकर कोई प्रश्न करते हैं क्या? आप गम्भीरता से विचार करें। अपने को शरीर को शरीर मानकर आप प्रश्न नहीं कर पाते, क्योंकि शरीर और विश्व का विभाजन हो ही नहीं सकता। शरीर सर्वकाल में विश्व के साथ ही रहेगा, क्योंकि उसी का एक अंग है। जैसे, कोई कहे कि जल में से लहर को अलग कर दो। तो इसका मतलब यह हुआ कि जल में जल को अलग कर दो। तो जल में से जैसे जल कभी अलग नहीं होता, वैसे विश्व से शरीर कभी अलग नहीं होता। किसी भी रूप में स्थूल शरीर, स्थूल विश्व से अलग नहीं होता, सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म जगत् से अलग नहीं होता, कारण शरीर कारण जगत् से अलग नहीं होता। लेकिन वह कौन-सा 'देवता' है जो यह कहता है कि शरीर मेरा' जो यह कहता है कि संदेह मुझमें, जो यह कहता है कि प्रभु की आवश्यकता मुझको? उसको आप शरीर से नहीं मिला सकते, उसको आप आत्मा से नहीं मिला सकते, न उसको आप ब्रह्म कह सकते हैं। लेकिन जैसा कि मैंने आरम्भ में आपसे निवेदन किया था, हम लोगों के जीवन में कोई न कोई स्वीकृति रहती है और उतना ही भाग स्वीकृतिकर्त्ता के विचार का विषय नहीं रहता, क्योंकि वह सुना हुआ है, जाना हुआ नहीं। यह नियम है कि विकल्परहित श्रवण, ज्ञान-जैसा भासित होता है।

आज प्रातः की चर्चा में एकविषय रखा गया था सत्संग की दृष्टि से, सिखाने की दृष्टि से नहीं, समझाने की दृष्टि से नहीं। ईमानदारी की बात तो यह है कि मैं समझाने की दृष्टि से नहीं बोलता हूँ। यह तो हमारी पूजा है। मैं

यह मानकर नहीं बोलता हूँ कि मैं समझता हूँ, आप नहीं समझते। मैं यह मानकर बोलता हूँ कि आपके स्वरूप में मेरे प्यारे प्रभु अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर मेरे बोलने के राग की निवृत्ति करते हैं। हमारा ही संकल्प हमारी दुर्दशा करता है, आप सच मानिये। आप जानते हैं कि मेरा नाम शरणानन्द है, मैं शरणागत हूँ। फिर भी ईश्वरवाद का लेशमात्र भी प्रचारक नहीं हूँ। क्यों नहीं हूँ? मुझे अपमान मालूम होता है प्रभु का, कि मैं यह कहूँ कि आप उनको मान लीजिये। आप सोचिये तो सही, क्या हमारे प्रभु इतने घटिया हो गये कि हम कहें कि प्रभु को मान लीजिये! यह मेरा मत नहीं है। हालाँकि लोग यही समझते होंगे कि साधु हैं, ईश्वर का प्रचार करते होंगे। अगर आपको कोई भी अपना मालूम होता है, तो माफ कीजिये ईश्वर को हमारे लिए रहने दीजिए। अगर आप बिना किसी साथी के अकेले रह सकते हैं, तब भी आप आनन्द से रहिए। प्रभु हमारे आपके ही रूप में आपसे मिलेंगे।

प्रभु का यह स्वभाव है कि वे भौतिकवादी के लिये जगत् के रूप में अवतरित होते हैं, विश्वप्रेम प्रदान करते हैं, शांति प्रदान करते हैं, आदर प्रदान करते हैं, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं, और अन्त में दु:ख-निवृत्ति भी कर देते हैं। आप ऐसा मत सोचिये कि ईश्वर ऐसा है कि जो उसको मानता है उसका तो दु:ख नाश करता है और जो उसको नहीं मानता है उसका दु:ख नाश नहीं करता है। ऐसा ईश्वर नहीं है और होगा तो किसी का कोई 'पर्सनल' ईश्वर होगा। आप उसको मानिये, मत मानिये, जानिये, मत जानिये, पर वह आपको मानता है और जानता है। इसमें मुझको सन्देह नहीं है। तो, जब हम अपना कोई संकल्प रखते हैं तो हमारा संकल्प किसी में आत्मीयता नहीं होने देता। आप गम्भीरता से विचार करें। संकल्प आत्मीयता नहीं होने देता और जब आत्मीयता नहीं होती तो आप देखेंगे कि कभी जीवन में प्रियता नहीं जगती और जब प्रियता नहीं जगती तो जीवन में रस की अभिव्यक्ति नहीं होती । क्या किसी भाई का अनुभव है कि प्रियता न हो और रस की अनुभूति हो? और नीरसता हो और काम से पीड़ित न हो? है ऐसा अनुभव किसी का?

आप जानते हैं कि कभी हम लोगों में देश की प्रियता थी। सन् 1907, 1914 और 1921 में कितनी प्रियता थी! लोग जंगलों में और एकान्त में व्यथित होते थे कि क्या कभी वह दिन होगा जब भारत-माता विदेशियों से आजाद होगी! उनके मन में यह बात नहीं थी कि हम मिनिस्टर बनेंगे, हम डिक्टेटर बनेंगे। और वे उस बात को जानते थे कि एक अंग्रेज को मार देने

से अंग्रेजी शासन नहीं हटेगा; लेकिन उस आजादी के प्यार को जगाने के लिए जवानों ने जवानी छोड़ दी। मुझे मालूम है राम प्रसाद बिस्मिल की दादी कचहरियों में पैसे माँगती फिरती थी। भैया, जब आजादी के साथ आत्मीयता स्थापित करने के लिए जवानी का सुख निछावर करना पड़ा, अर्थात् अपना व्यक्तिगत संकल्प तोड़ना पड़ा, तो आस्तिक दृष्टि से प्रभु में आत्मीयता जोड़ने के लिए अध्यात्म-दृष्टि से सर्वात्मभाव के लिए और भौतिकवाद की दृष्टि से 'वसुधैव कुटम्बकम्' कहो, 'समस्त विश्व एक' कहो, उसके लिए क्या हम अपना व्यक्तिगत संकल्प नहीं तोड़ सकते हैं? ये बड़ी-बड़ी बातें हुईं। छोटी बात सोचो। पति-पत्नी के बीच की बात सोचो। दो मित्रों के बीच की बात सोचो। पिता-पुत्र के बीच की बात सोचो। अपना संकल्प रखकर क्या कोई स्त्री पति के प्रति आत्मीयता रख पायी? अपना संकल्प रखकर कोई पिता पुत्र के प्रति आत्मीयता रख पाया? विचार करो, अपना संकल्प कितना बाधक है! मित्र के लिए मित्र नहीं होने देता, पिता के लिए पुत्र नहीं होने देता, भगवान् के लिए भक्त नहीं होने देता जिज्ञासु के लिए तत्त्व-ज्ञान नहीं होने देता। कौन-सी ऐसी बाधा है जो आपके संकल्प ने आपके साथ नहीं उत्पन्न कर दी?

आपका यदि यही सत्य हो कि आपका संकल्प किसी के साथ भी आपको एक होने देगा, तो मैं पहला आदमी हूँगा जो यह कहे कि अपना ही संकल्प जीवन है। और जो भैया, किसी के साथ एक नहीं होने देता है, न जगत् के साथ एक होने देता है, न जगत्पति के साथ एक होने देता है, न निजस्वरूप से एक होने देता है, न परस्पर में एकता स्थापित होने देता है, न परस्पर में विश्वास स्थापित होने देता है, क्या उसका भी जीवन में कोई स्थान है? गंभीरता से विचार करें। हम अपनी दशा से घबरा न जायें। भयभीत होकर निराश न हो जायें। यह न सोच बैठें कि अरे भैया, हम कैसे संकल्प-रहित हो सकते हैं! मैं सच कहता हूँ, जिसका कोई अपना संकल्प रहा है वही न संकल्प-रहित होगा! अच्छा भैया, बताओ, पराधीन स्वाधीन होगा कि स्वाधीन स्वाधीन होगा? दु:खी दु:ख से रहित होगा कि जो दु:खी है ही नहीं वह दु:ख से रहित होगा? विचार करें। हमने और आपने अपने कुछ संकल्प बना रखे हैं। हम आपको क्या बतायें! आजकल एक रोग लगा है रोग, बड़ा भयंकर रोग-दूसरों के सम्बन्ध में राय कायम करने का। हमसे लोगों ने कहा कि क्या आप अमुक बाबू के यहाँ सत्संग करेंगे? क्यों भैया, वह आदमी नहीं है क्या? उनसे लोग कहते हैं, तुम किस रोग में फँस गए भाई? यानी लोग यह सोच नहीं सकते कि मनुष्य में जो छिपी हुई मानवता है, न जाने कब जग जाय।

क्या आप सत्य से दूर हो सकते हैं, कभी नहीं हो सकते। या सत्य आप से दूर हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। लेकिन लोगों ने एक राय कायम कर ली है। जो देखा, अधूरी दृष्टि से। अधूरी दृष्टि मालूम है किसे कहते हैं? इन्द्रिय-दृष्टि लगाई, बुद्धि-दृष्टि नहीं लगाई। बुद्धि-दृष्टि लगाई, विवेक नहीं लगाया। अधूरी दृष्टि के आधार पर फैसला दे देते हैं। फैसला मत दो बाबू, गम्भीरता से विचार करो। और विचार इस बात का करो कि आपको अपना संकल्प किसी से एक नहीं होने देगा। सभी संकल्प पूरे हो जायें, यह आपके वश की बात नहीं और भगवान न करे कि सभी संकल्प पूरे हो जायें किसी के। और संकल्प पूरे हो जाने पर आपको जीवन मिल जाये, यह आपके वश की बात नहीं।

आप गम्भीरता से विचार करें, संकल्प है क्या चीज? कोई हमारे काम आ जाय। कोई सोचेगा, अगर सुन्दर स्त्री मिल जाती तो जीवन कृतकृत्य हो जाता। कोई सोचेगा कि अमुक पद मिल जाता, तो जीवन कृतकृत्य हो जाता। यह गलत नहीं है। किसी को सुन्दर स्त्री न मिली हो, यह बात नहीं है। मैं ऐसे संकल्प का विरोधी नहीं हूँ। जीवन देखकर चलता हूँ। हम वही संकल्प करते हैं जो किसी का पूरा हुआ है। हमारा क्यों नहीं पूरा हुआ, इतनी ही न बात है? ऐसा तो नहीं है कि किसी को सुन्दर स्त्री मिली न हो। ऐसा भी तो नहीं है कि किसी को सुन्दर पति नहीं मिला हो। ऐसा भी नहीं है कि किसी को सपूत पुत्र न मिले हों। ऐसा भी नहीं है कि किसी को वास्ततिक मित्र न मिला हो, पद न मिला हो। प्रश्न यह है कि जिसका संकल्प पूरा हूआ, वह संकल्प से रहित हुआ क्या? वह पराधीनता से रहित हुआ क्या? सच पूछिये तो सृष्टि का रचयिता कोई हो और कैसा ही हो, पर इतना ईमानदार मालूम होता है मुझको, इतनी समता है उसमें, कि महाराज! जीवन में अनेक भेद होने पर भी अर्थ में एकता, अर्थात् परिस्थिति-भेद होने पर भी वास्तविकता में एकता है। हम समझते हैं कि जो सम्मान किसी भी देश के प्रधानमंत्री को मिलता है, वह हमको नहीं मिला, लेकिन जब वे लोग स्वयं अपनी दृष्टि में अपने को देखते हैं। हम सोचते हैं कि जो पद उन्हें मिला वह हमें मिल जायगा, तो न जाने हम कितने सुखी तथा महान् हो जायेंगे! यह केवल दिमागी कौतूहल है, मेरे भाई।

यह दिमागी कौतूहल है कि किसी परिस्थिति विशेष की प्राप्ति से हम वह हो जायेंगे जो हम आज नहीं हैं। सरकार, यही रहेंगे, यही। अन्तर यही योग होगा कि आप तीन बटा चार न लिखकर पिचहत्तर बटा सौ लिखियेगा। इतना ही अन्तर होगा। और दीनता की अग्नि जरा कम होगी, तो अभिमान की

अग्नि जल उठेगी। यह सम्भव है कि दीनता की अग्नि बुझ जाये, क्योंकि दीन पर करुणा आती है लोगों को। पर क्या यह सम्भव नहीं है, वह जलेगा ही। इसका अर्थ आप यह न लगा लीजिए कि लोग जिसे आवश्यकता कहते हैं, मैं उसको आवश्यकता नहीं कहता हूँ। मैं तो आवश्यकता के अर्थ में एक वचन लेता हूँ, आवश्यकताएँ नहीं लेता हूँ। यह मेरी व्यक्तिगत बात है। आप आवश्यकता का नाम लेते हैं तो जनाब, आपकी आवश्यकता यही है कि आप किसी की आवश्यकता हों। यह मानव-जीवन का कलंक है कि उसकी कोई आवश्यकता हो। यह मानव-जीवन का भूषण है कि आप किसी की आवश्यकता हों। लेकिन किसी की आवश्यकता हों, किस रूप में हों? जिसमें आपके विवेक का, आपकी सामर्थ्य का समर्थन हो। जब हम भगवान् के सामने जाते हैं तब भी हम इसी आदत को काम में लाते हैं और आशा करते हैं कि वे हमारे संकल्प को पूरा करें। जब हम गुरु के सामने जाते हैं तो आशा करते हैं कि वे हमारे संकल्प को पूरा करेंगे। यह जो हमारा रोग है वह मानव-जीवन की घोर निन्दा है। घोर अपमान है मानव-जीवन का कि हम गुरु के सामने जायें और सोचें कि गुरु महाराज हमारा संकल्प पूरा करें, हम प्रभु के सामने जायें और सोचें कि प्रभु हमारा संकल्प पूरा करें, हम जगत् के सामने जायें और कहें कि हे जगत् देवता! आप हमारा संकल्प पूरा करें।

यह रोग तब तक रहेगा जब तक जड़तत्त्व में अहम् बुद्धि रहेगी; कारण, कि देहाभिमान ही काम का प्रतीक है और काम की पूर्ति-अपूर्ति में ही राग तथा क्रोध की उत्पत्ति है जो विनाश का मूल है। और जहाँ आपने यह निर्णय किया कि हे प्यारे, तेरा संकल्प पूरा हो! तब देहाभिमान का नाश और चिन्मय जीवन से अभिन्नता स्वत: हो जायेगी। आप सोचें कि हे पड़ोसी, तेरे मन की बात पूरी हो! हे दोस्त, तेरे मन की बात पूरी हो! हे प्रिय जनो, तुम्हारे मन की बात पूरी हो! साधक जिस समय अपने संकल्प को छोड़ देता है, वह दासता से रहित होकर योगवित् होता है, योगवित्। उसी का अर्थ पूर्ववक्ता ने मानव-सेवा-संघ के दृष्टिकोण से 'विश्राम' के नाम से कहा है और जिस समय साधक योग का भोग नहीं करता है, तत्त्ववित् होता है, उसी को पूर्ववक्ता ने 'स्वाधीनता' के नाम से कहा और जिस समय साधक को स्वाधीनता से सन्तुष्टि नहीं होती, उसमें प्रेम की जागृति होती है, उसी को पूर्ववक्ता ने विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम के नाम से अपनी माँग बताया है। ये हमारी माँग है। मैंने तो यही न कहा था कि मुझे यह तो मालूम हो जाय कि जीवन का स्वरूप क्या है! जो आपकी माँग है वही आपके जीवन का स्वरूप है। आपका जीवन है 'विश्राम'। आपका जीवन है 'स्वाधीनता'। आपका जीवन

है 'प्रेम'। चाहे उस प्रेम को अध्यात्मवाद की दृष्टि से आत्मा के साथ मिला दो, भौतिकवाद की दृष्टि से विश्व से मिला दो, आस्तिकवाद की दृष्टि से प्रभु से मिला दो। लेकिन आपका जीवन 'प्रेम' है। आपमें प्रेम नहीं है, प्रेम ही आपका जीवन है।

यह नहीं कि आज मुझमें राग है, कल मुझमें अनुराग होगा। राग जायेगा आपको त्यागकर, प्रेम आपका हो जायेगा। राग के जाते ही 'आपका' नाश कर जायेगा। राग में आप हैं, प्रेम में आप नहीं हैं। पराधीनता में आप हैं, स्वाधीनता में आप नहीं हैं। श्रम में आप हैं, विश्राम में आप नहीं हैं। यहाँ 'आप' का अर्थ है व्यक्तित्व का मोह। साधक अपनी जो एक व्यक्तिगत सत्ता महसूस करता है कि 'हम', वह 'हम' क्या है? पराधीनता, श्रम और आसक्ति का पुंज, लेकिन वह पराधीनता, श्रम और आसक्ति का पुंज होते हुए भी क्या है? आसक्ति क्या है? प्रेम की माँग। पराधीनता क्या है? स्वाधीनता की माँग। श्रम क्या है? विश्राम की माँग। तो विश्राम की माँग, स्वाधीनता की माँग, प्रेम की माँग है आपका वर्तमान जीवन; जिसे आप परिस्थितियों की दीवारों में आबद्ध देखते हैं, और कुछ नहीं है। अब हम उस माँग को किसी व्यक्ति के आश्रित, किसी परिस्थिति के आश्रित, किसी अवस्था के आश्रित ही पूरा करने की सोचते हैं और प्राप्त परिस्थिति की अपेक्षा अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन करते हैं। ऐसा न करके प्राप्त परिस्थिति का पूजा-बुद्धि से, साधन-बुद्धि से, कर्त्तव्य-बुद्धि से उपयोग करें। पूजा-बुद्धि का अर्थ क्या है? अगर रोटी खाना भगवान् की पूजा का अर्थ नहीं है, तो माफ कीजिये, माला जपना भी पूजा नहीं है और यदि माला फेरना पूजा है तो शौच जाना भी पूजा है। आप सोचते होंगे कि तीन घन्टे जो माला फेरते हैं वह तो पूजा है, फिर इक्कीस घण्टे क्या करेंगे? यदि पूजा है तो प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा है। यदि साधन है तो प्रत्येक प्रवृत्ति साधन है। नहीं तो भैया, जब तक किसी प्रवृत्ति-विशेष का नाम साधन है और किसी प्रवृत्ति-विशेष का नाम असाधन है तब तक सब असाधन है। परन्तु सब असाधन कहने का अधिकार मुझको नहीं है, क्योंकि सर्वांश में असाधन कभी रहता नहीं। इसलिए यह कहने की बात नहीं है। परन्तु आंशिक असाधन रहते हुए साधन, जो जीवन है, वह दूर ही रहता है।

इसलिए भाई, अपना संकल्प समस्त असाधनों का मूल है, वह असत् है। क्यों असत् है? भाई एक तो पूरा नहीं होता, इसलिए असत् है। तो अपना संकल्प रखना अपने जाने हुए असत् का संग है। और मैं ऐसा मान बैठा हूँ, चाहे वह व्यक्तिगत सत्य मानकर सबके लिए असत्य भले ही हो, किन्तु भैया, व्याख्यान में तो अपना परिचय होता है, मैं ऐसा मान बैठा हूँ कि अपने जाने

हुए असत् का संग रहते हुए जो बलपूर्वक साधन किया जाता है, वह साधन कालान्तर में भले ही फलदायक हो, वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। इसलिए यदि आज हमें और आपके अपने-अपने दृष्टिकोण से, मेरे दृष्टिकोण से नहीं, अपने-अपने विवेक के प्रकाश में यह मालूम होता है कि अपना संकल्प रखना कुछ अर्थ नहीं रखता, तो इसका जीवन में कोई स्थान नहीं है। यह मानव-जीवन का कलंक है, क्योंकि अपना संकल्प ही अपने को दास बनाता है, दूसरों से शासित कराता है और अपना संकल्प ही दूसरों पर शासन कराता है। हम ऐसा चाहते हैं। हम बाप बनकर कहते हैं कि लड़का ऐसा करे। अरे, बाप बने थे लड़के को प्यार करने के लिए कि लड़के पर शासन करने के लिए? पति बनकर आप कहते हैं कि पत्नी ऐसा करे। तो क्या उसके मन नहीं है? क्या वह बेमन की है कि अपने मन को मिला दे? अरे, बनते हो पुरुष और स्त्री के मन में मन को नहीं मिला पाते; तो काहे के पुरुष हो! वह नारी है, तुम नारीदास हो। आप विचार करो, बनते हो मित्र, और मित्र के मन में अपने मन को नहीं मिला पाते! अगर नहीं मिला पाते, तो भगवान् के मन में भी अपने मन को नहीं मिला पाते।

संसार है क्या? भगवान् से मिलने की ट्रेनिंग। जो संसार में ठीक से रह लेता है, ढंग से रह लेता है वह भगवान् से अच्छी तरह मिल सकता है। बल्कि मैं तो कहूँ कि अगर वह भूल भी जाता है तो भगवान् आकर मिल लेते हैं। अगर आप परिस्थिति का ठीक उपयोग कर सकते हैं पूजा-बुद्धि से, तो आपको भगवान् की याद नहीं करनी पड़ेगी, भगवान् आपको याद करेगा। अगर आप अपनी परिस्थिति का ठीक उपयोग कर लेते हैं साधन-बुद्धि से, तो आपको सिद्धि का आह्वान नहीं करना पड़ेगा, सिद्धि आपका आह्वान करेगी। यदि आप अपनी परिस्थिति का ठीक कर्त्तव्य-बुद्धि से उपयोग कर लेते हैं, तो आपमें धर्म का अवतरण होगा, आपको धर्मात्मा बनने का प्रयास नहीं करना पड़ेगा। लेकिन यह सब होगा कब? जब अपना संकल्प न हो तब। अब यह सोचिए कि आप अपने संकल्प को रखकर धर्म से दूर होना पसन्द करते हैं? सिद्धि से दूर होना पसन्द करते हैं? प्रभु से अलग रहना पसन्द है? प्रियजनों से भेद रखना पसन्द करते हैं? अगर आप सोचते हो कि आपके संकल्प का इतना मूल्य है कि प्रियजनों में भेद बना रहे, जगत् से अलग बने रहें, प्रभु से अलग बने रहें, स्वाधीनता से वंचित रहें, प्रेम से वंचित रहें, विश्राम से वंचित रहें, तो इतना मँहगा संकल्प आप रख सकते हैं; किन्तु वह भी कब तक, दोस्त? सुषुप्ति में संकल्प रख पाते हो? स्वप्न में या जागृति में? यानी किसी भी कीमत पर आप अपना संकल्प नहीं रख सकते। सोचिए तो सही, उनके

सिखाने के कितने ढंग हैं! यानी किसी भी भाई को, किसी भी बहन को स्वाधीनता नहीं दी कि वह हर समय अपना संकल्प रख सके। अरे भाई, पागल किसे कहते हैं? जो संकल्प में अटका रहे, वही तो पागल है; इसलिए आप कहते हो न, कि बिजली का 'शॉक' दे दो। क्यों? संकल्प से छूट जायें, दिमाग ठीक हो जाय। आप विचार करें, भौतिक दृष्टि से आप विचार करें, आस्तिक दृष्टि से आप विचार करें, जीवन की प्रत्येक समस्या की दृष्टि से आप विचार करें।

आपको भोजन करने में सबसे अधिक रस कब मिलता है? मूल्य देकर किए भोजन से भूख तो दूर होती है, पर रस नहीं मिलता। जिस समय आपकी भूख किसी में आपको खिलाने की तीव्र अभिरुचि जाग्रत कर देती है, तब उस भोजन में जो रस आपको मिलता है, उसे आप अनुभव करें अपने जीवन में। अरे, आपकी कौन कहे, रघुनाथ जी नहीं भूल सके शबरी के बेरों को! क्यों? क्यों नहीं भूल सके? शबरी का संकल्प था कि गुरु ने कहा है एक दिन प्रभु आएँगे। तो जब प्रभु आएँगे, तो मैं अपने प्रिय को अपने हाथ से खिलाऊँगी। प्रेम क्या है? अपनी आसक्तियों को निछावर कर देना है। मैं सत्य कहता हूँ; किसी से आपको प्रेम हो जाय और आपमें कोई विकार रह जाये, तो आप हमको फाँसी लगा दें। किसी से प्रेम तो हो जाये; और प्रेम होगा कब? जब आप पसंद करें कि किसी का दिल, हमारा दिल हो जाये; यानी किसी का जो दिल है, वही हमारा दिल है। हमारे दिल में किसी का दिल न मिलता हो, पर हम किसी के दिल में दिल तो मिलाते! उसके लिए आप तैयार तो हो जायें कि अब हम किसी के मन में अपना मन मिला दें। और दुनिया में अगर कोई ऐसा साथी न मिले, तो सुने हुए प्रभु के मन में मन मिला लें। और यहाँ मिल जाये, तो यहाँ मिला लें। लेकिन जिस समय आप किसी के मन में मन मिला लेंगे, उसी समय चित्त चेतन में और चेतन अनन्त में मिल जाएगा।

"हरि ॐ"

प्रवचन

2

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

आत्मीयता में ही प्रियता है और प्रियता ही भक्ति-रस है। वह ऐसा अनुपम रस है जिसकी माँग भगवान् को भी है, भक्त को भी। शक्ति और मुक्ति की जो बात है, यह व्यक्ति का विकसित स्वरूप है और भक्ति की जो बात है वह प्रभु के लिए है। अब आप सोचिए कि जो जीवन प्रभु के लिए उपयोगी है वह जीवन कितना मूल्यवान है, कितना अनुपम है! उसका वर्णन किसी भी भाषा में सम्भव नहीं है। अब विचार यह करना है कि आत्मीयता के मुख्य अंग क्या हैं। पहला अंग है 'आस्था'। आस्था का अर्थ है "प्रभु हैं"। कैसे हैं, कहाँ हैं, हम नहीं जानते। यह जानना बिलकुल जरूरी भी नहीं हैं। इतना जानना पर्याप्त है कि "प्रभु हैं"। उसके बाद अपने ही आप जहाँ आस्था में दृढ़ता आयी कि 'श्रद्धा' जगती है, करनी नहीं पड़ती। बहुत गम्भीरता से विचार करें। इस पथ में आस्था करनी पड़ती है, श्रद्धा नहीं करनी पड़ती। श्रद्धा स्वतः जगती है। जब श्रद्धा जगती है तब विश्वास हो जाता है। यही श्रद्धा की कसौटी है। जिसमें श्रद्धा होती है, उसमें विश्वास होता है और जब विश्वास हो जाता है, तब उसमें आत्मीयता आ जाती है। बस, इस पथ की जो पूर्णता है वह आत्मीयता में है। अब वह आत्मीयता जब आपने स्वीकार कर ली, तब आप अपने ऊपर इतनी दया करें कि उस आत्मीयता का प्रभाव जो आप शरीर में, इन्द्रियों में, मन में, बुद्धि में देखना चाहते हैं, वह न देखें। क्यों? उसका प्रभाव देखने से आत्मीयता ममता के रूप में बदल जायेगी। इसलिए तन चाहे जैसा हो, मन चाहे जैसा हो, प्राण चाहे जैसे हों, वे तो प्यारे प्रभु के हैं, आपके नहीं हैं, और किसी भी दार्शनिक दृष्टि से नहीं हैं। तो जो चीज अपनी नहीं है वह आस्तिकों की दृष्टि में प्रभु की है और अध्यात्मवादियों की दृष्टि में वह मायामात्र है और भौतिकवादी की दृष्टि में वह विश्व की है। कौन-सी चीज आपकी है? तो सोचिए कि प्रभु आपके हैं। उनके होते हुए तन, मन और बुद्धि में बहुत विकार दिखाई देते हैं तो भाई, विकार तो इसलिए दिखाई देते हैं कि आप उनको अपना मानते हैं।

जानते तो हैं आप यह कि वे हमारे नहीं हैं, इस बात में तो सन्देह नहीं है। अगर वे हमारे होते तो बुढ़ापे को रोक लेते, रोग को रोक लेते, सुख को सुरक्षित रख लेते, दुःख न आने देते। प्रत्येक भाई का, प्रत्येक बहन का यह अनुभव है। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि जो करना चाहते हैं,

जिसे कर सकते हैं, उसे कर नहीं पाते। देखिए, उसे करने का प्रश्न नहीं है जिसे आप कर नहीं सकते। कर सकते हैं और कर नहीं पाते, यह दशा है। यह दशा साधक को अपनी असमर्थता से परिचित कराती है। तो यह बड़ा भारी सत्य है महाराज! कि अपनी असमर्थता के ज्ञान में किसी समर्थ की आस्था स्वतः आती है और यदि नहीं आती है, तो आपका असमर्थता से परिचय नहीं है। तो सामर्थ्य का सद्व्यय कीजिए। यह भी एक पथ है और एक स्वतन्त्र पथ है। सामर्थ्य का सद्व्यय और असमर्थता की व्यथा दोनों से आप एक ही जीवन में प्रवेश पायेंगे! लेकिन भाई, कभी तो असमर्थता से व्यथित और कभी आप यह रस लेते हैं कि हमने वह किया जो हमें करना चाहिए, यह द्वन्द्व मत रखिये। निश्चिन्त हो जाइए एक बात पर। यदि आप सामर्थ्य का सद्व्यय कर सकते हैं, तो हमारे प्रभु आपके भूतकाल को नहीं देखेंगे और वर्तमान के आधार पर ही आप न चाहो, तो भी अपना लेंगे। चाहने पर अपना लेना, यह प्रभु का अपमान करना है। मेरे विश्वास के अनुसार वे उनको पहले अपना लेते हैं जो उनको नहीं मानते हैं। यह उनका एक स्वभाव है। क्यों ऐसा स्वभाव है? इसलिए कि जो प्रभु को नहीं मानता है वह वस्तुओं की सत्ता मानता है, योग्यता की सत्ता मानता है, परिस्थितियों की सत्ता मानता है, अवस्थाओं की सत्ता मानता है। तो प्रभु अपने दुलारे को, अपने प्यारे को वस्तुओं के अधीन देखते हैं, तो वे बड़ी ही तीव्रता के साथ उसको अपनाने के लिए आकुल हो जाते हैं, जो सचमुच उन्हें नहीं मानता। हमसे भूल क्या होती है कि कभी प्रभु को मानते हैं और कभी जगत् को मानते हैं। यह बड़ी भारी भूल होती है।

मेरा तो आपसे निवेदन है कि आप इस बात से डरिये मत। आप पूरी कोशिश इस बात की करें कि प्रभु किसी न किसी प्रकार हमारे पास न आने पावें। यह मत कोशिश कीजिए कि हमारा उनसे सम्बन्ध हो जाये। कोशिश कीजिए कि हम उनको अपने जीवन में से निकालकर फेंक दें। सच मानिए, जैसे-जैसे आप प्रभु को निकालने की कोशिश करेंगे, वैसे-वैसे प्रभु आपमें घुसते चले जायेंगे। आप कहेंगे कि ऐसी बात कहते हैं! भाई देखो तो जरा, कौन-सा क्षण था आपके जीवन में, जब आपने अपने से सबल की सत्ता को स्वीकार न किया हो? आप ऐश्वर्य से बचे हैं? कौन-सा क्षण था आपके जीवन में, जब आपने ईश्वर की सत्ता को स्वीकार न किया हो? तो आप निरन्तर ऐश्वर्य का आह्वान कर रहे हैं। प्यार का आह्वान कर रहे हैं। लेकिन नाम उनका बदल रहे हैं- व्यक्तियों के रूप में, वस्तुओं के रूप में, परिस्थितियों के रूप में। आप ऐश्वर्य की आशा करते हैं, आप माधुर्य की

आशा करते हैं; और अगर नहीं करते हैं, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि कौन ऐसा माई का लाल है जिसको ऐश्वर्य ने न खींचा हो? अगर ऐश्वर्य ने खींचा है तो आप कैसे कहते हैं कि आपने ईश्वर को छोड़ दिया है? विचार करो, गम्भीरता से विचार करो कि आपमें सामर्थ्य है ईश्वर को छोड़ने की? और ईश्वर में सामर्थ्य है आपको छोड़ने की? तो यह दूसरी बात है कि आप कहें कि हे प्यारे! तुम एक सुन्दर स्त्री के रूप में आओ, देखो प्यारे! बँगले के रूप में आओ, पद के रूप में आओ।

यह तो आपकी दशा है कि हे प्यारे! अब तो निर्विकल्पता के रूप में आओ, कि हे प्यारे! अब तो समता के रूप में आओ, कि हे प्यारे! अब तो असंगता के रूप में आओ, कि हे प्यारे ! अब तो कर्त्तव्यपरायणता के रूप में आओ। कौन-सा क्षण है आपके जीवन में, जब कि आह्वान नहीं है, किसी की पुकार नहीं है? भाई, वह उसी की पुकार है। उसकी पुकार को आप अपने देहाभिमान से युक्त स्वभाव में रँगते हैं, इतनी-सी बात है। अगर आपको सचमुच शरणागत होना है, तो प्रयास इस बात का करो कि यदि हम ईश्वर को भूल जाते तो अच्छा था। भूल जाते उनको, न मानते तो बहुत अच्छा था! सच कहता हूँ आपने जहाँ प्रभु को भूलने का प्रयास किया कि आपमें अखंड स्मृति जाग्रत होगी। लेकिन करते हैं आप क्या? प्रभु के स्मरण का प्रयास आप करते हैं। इसका मतलब क्या है? क्या आपको मालूम है कि जब आप प्रभु के स्मरण का प्रयास करते हैं तब आपको जगत् का चिन्तन होता है? जगत् का चिन्तन आपको जगत् का कार्य करते हुए कभी नहीं होता। जगत् का स्मरण हुआ पूजा के समय, क्योंकि आपने प्रभु से दूरी, भिन्नता तथा विस्मृति को स्वीकार कर लिया। गम्भीरता से सोचिए, तभी न आप प्रभु का चिन्तन करते हैं, किन्तु अपने आप जगत् का चिन्तन होता है। और क्या किया, कि आपने अपने आप होने वाले जगत् के चिन्तन के अस्तित्व को स्वीकार कर लिया। गम्भीरता से विचार करें, जगत् की स्मृति को सत्ता देकर आप प्रभु का ध्यान करना चाहते हैं, जो सर्वदा असम्भव है।

दया करें अपने पर, और ध्यान का प्रयत्न छोड़ दें, तब ध्यान अपने आप ही हो जायेगा। इसका अर्थ उल्टा मत लगा लेना। ध्यान करना छोड़ें उसका, जिसमें ममता है। देखिए न, आपके सामने ध्यान करने का प्रश्न कब आता है? ध्यान करन का प्रश्न तब आता है जब आपको किसी और का, अर्थात् जो आपका प्रेमास्पद नहीं है उसका ध्यान होता है। अरे भैया, जब प्रभु का ध्यान छूट गया, तब जगत् का ध्यान क्यों करते हो? आप कहेंगे, करते नहीं हैं, होता है। बड़ी सुन्दर बात है। जिसके तुम कर्त्ता नहीं उसके तुम भोक्ता

क्यों बनते हो, अरे बुद्धिमान ठहरे न! ये बुद्धिमान लोग होते हैं जो ध्यान करने बैठते हैं। आसन बिछायें, वेदमन्त्र पढ़े, कलमा पढ़ें, न जाने क्या-क्या पढ़ें। तो मेरा निवेदन यह था कि जिसका ध्यान हो रहा है उसका ध्यान न करने का प्रयास कर रहे हैं। तो किसका ध्यान हो रहा है? बोले, जिसका नहीं चाहते। वह हो रहा है जो आप नहीं चाहते। तो बिना चाहे जो हो जहा है उसके भोक्ता क्यों बनते हो भैया? उसका समर्थन और विरोध क्यों करते हो भैया? यदि आप नहीं चाहते हैं संकल्प-विकल्प, तो आप होने वाले संकल्प-विकल्प का समर्थन क्यों करते हैं, उससे क्यों सुख लेते हैं? आप निर्विकल्पता का आह्वान क्यों करते हो? तो यह जो आप करते हो , उसे आप छोड़ दो।

मैंने तो सवेरे भी कह दिया, और अब भी कहता हूँ कि मैं तो ईश्वरवादी बनाने का प्रयास नहीं करूँगा। क्यों? मैं तो ईश्वरवादी तब बनाता जब मुझे आप ईश्वरवादी मालूम न होते या दूर मालूम होते या अलग मालूम होते, तो मैं प्रयास करता कि आप ईश्वरवादी बनें। मैं तो ऐसा मानता हूँ और ऐसा जानता भी हूँ कि आप ईश्वर से अलग हैं नहीं, हो सकते नहीं; कभी होंगे नहीं। इसलिए भाई, जो बिना चाहे हो रहा है उसके साथ, अर्थात् उत्पन्न होने वाले संकल्प-विकल्पों के साथ आप सहयोग करते हैं। कैसे सहयोग करते हैं? कभी तो विरोध करके, कभी समर्थन करके, कभी तादात्म्य करके और कभी निर्विकल्पता का आह्वान करके। गंभीरता से विचार करें; निर्विकल्पता कभी नाश होती है क्या? आप विचार करो, बहुत स्थूल बुद्धि से भी सोचो। उत्पन्न हुए संकल्प का नाश होते हुए देखा होगा। अच्छा भाई, कोई सिद्ध कर सकता है कि निर्विकल्पता कभी नाश हुई क्या? देखिए बड़े रहस्य की बात है। अविनाशी का तुम नाश कर सकते हो? विश्राम का तुम नाश कर सकते हो? स्वाधीनता का तुम नाश कर सकते हो? प्रेम का तुम नाश कर सकते हो? कदापि नहीं कर सकते; वह तो है। लेकिन करते हो क्या? विकल्प करते हो इस बात में कि वह तो नहीं है। जो विकल्प करने की बात है उसको छोड़ दो।

एक बार आस्तिक बुद्धि से स्वीकार कर लो कि 'वह है।' मजाक उड़ाओ भगवान् का कि हमने तुम्हारे मन में संकल्प-विकल्प देखे, कि हमने तुम्हारी बुद्धि में विवशता देखी, कि हमने तुम्हारे तन में रोग को देखा। क्यों देखा, कि हम इस बात को जानते हैं कि ये चीजें हमारी नहीं हैं, यह तन और मन हमारा नहीं है और हमारे लिए नहीं है, बुद्धि हमारी नहीं है और इस बात को मानते हैं कि प्रभु हमारे हैं, किन्तु जानते नहीं हैं। भाई, बिना जाने को क्यों

मानते हो? मैं आपसे पूछता हूँ कि जाने हुए को मानने का कहाँ प्रश्न आता है? बन्धुओं, बहुत गम्भीरता से विचार करो। जाने हुए को मानने का प्रश्न नहीं है। क्यों? अगर आप असत्य को असत्य जानते हैं तो असत्य की निवृत्ति हो जाती है। अगर आप सत्य को सत्य जानते हैं तो सत्य की प्राप्ति हो जाती है। मानने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में, आप कुछ नहीं जानते हो। और नहीं जानते हो किसके सम्बन्ध में? तो कहना पड़ता है प्रभु के सम्बन्ध में। आजकल जानने का अर्थ लगा लिया है लोगों ने 'श्रवण', किन्तु सुने हुए को हम मान लेते हैं कि हम जानते हैं? सुना हुआ जाना हुआ नहीं होता; चाहे कुरान से सुना हो, चाहे पुराण से; चाहे बाइबिल से सुना हो, चाहे वेद से। सुना हुआ जो कुछ है, वह जाना हुआ नहीं है। और जाना हुआ जो कुछ है सरकार, वह माना हुआ नहीं है। विचार करो; क्या जाना हुआ है? प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक वस्तु सतत परिवर्तनशील है, अथवा यों कहो कि स्थिति-रहित है। करो स्थिति सिद्ध इन्द्रियगोचर की! जिसे तुम जानते हो, करो उसकी स्थिति सिद्ध! बाबू, नहीं कर सकते। जिसे तुम मानते हो, उस माने हुए की स्थिति जरा मिटा तो दो। अर्थात् आस्था की स्थिति अस्वीकृति के बिना नाश नहीं होती। लेकिन आप जानते हैं, चीनी यह बात मान लेते कि हम चीनी नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। अमरीकी यह बात मान लेते कि हम अमरीकन नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। हिन्दुस्तानी यह मान लेते कि हम हिन्दुस्तानी नहीं हैं, तो झगड़ा खत्म। यानी, अपने माने हुए को आप अस्वीकृति के बिना मिटा नहीं सकते।

इन्द्रियगोचर की तो आप स्थिति और उसका स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं सिद्ध कर सकते और माने हुए को आप मिटा नहीं सकते। आस्था में कितना बल है, श्रद्धा में कितना बल है, विश्वास में कितना बल है कि माने हुए को मिटाने की सामर्थ्य आपमें नहीं है और इन्द्रियगोचर को स्थिर रखने की सामर्थ्य आपमें नही है। अगर हो तो कोई भाई बताते! बड़े से बड़ा दार्शनिक हो, बड़े से बड़ा विज्ञान-वेत्ता हो। बड़े से बड़े विज्ञान-वित्ता के सामने यह प्रश्न है कि वह कृपा करके जाने हुए की स्थिरता सिद्ध कर दे। और बड़े से बड़े तार्किक के सामने यह प्रश्न है कि वह माने हुए की स्थिति को जरा मिटा तो दे। तो माना हुआ मिटता नहीं और जाना हुआ स्थिर है नहीं, दोस्तो! तो परवाह क्या है? अगर माना हुआ मिट जाता तो सचमुच एक समस्या आ जाती। यदि जाना हुआ स्थिर हो जाता तो सचमुच एक समस्या हो जाती। जाना हुआ स्थिर नहीं है, तो उसे अपना मत मानो, अर्थात् उसकी ममता का त्याग करो; और सुना हुआ मिट नहीं सकता है, अतः प्रभु में आत्मीयता स्वीकार

करो। आत्मीयता सजीव कब होगी? जब अपने पास अपनी करके कोई वस्तु नहीं हो, एक तो यह बात। और दूसरी बात यह कि 'वे चाहे जैसे हैं, अपने हैं; किन्तु उनसे कुछ चाहिए नहीं'। आप यह बात मत सोचिए कि प्रभु को मुक्ति, शक्ति देना कठिन है।

तुम केवल यही कह सकते हो कि हे प्यारे! तुम अपने हो, तुमसे और कुछ नहीं चाहिए। क्यों नहीं चाहिए? क्योंकि अपनेपन से बढ़कर भी कोई और चीज होती, तो हम जरूर माँगते। अपनेपन में है अगाधप्रियता, और प्रियता से प्यारे को रस मिलता है; और किसी प्रकार रस नहीं मिलता। इसलिए हमें अपनत्व से भिन्न कुछ नहीं चाहिए, जिससे आपकी आत्मीयता सुरक्षित रहे। अपने में अपना करके वास्तव में न पहले कुछ था, न अब कुछ है। जब अपना करके अपने पास कुछ नहीं है, तो असंगता स्वतः आ गयी। और उनसे कुछ नहीं चाहिए, तो आत्मीयता सुरक्षित एवं सजीव हो गई। आत्मीयता में ही अगाध, अनन्त नित–नव प्रियता है, जो वास्तव में जीवन है।

॥ हरि ॐ ॥

24 दिसम्बर, 1959, प्रातःकाल

प्रवचन

3

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

किसी भी साधक को किसी भी अप्राप्त वस्तु, सामर्थ्य और योग्यता की आवश्यकता नहीं है; परन्तु मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, इस निर्णय की सभी को आवश्यकता है। हम इस बात को अपनी बात मान लें कि जो हमें मिला है उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे और जो नहीं मिला है उसे माँगेंगे नहीं, क्योंकि जो दाता है वह हमसे अधिक हमारे सम्बन्ध में जानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं केवल ईश्वरवादियों की बात कहता हूँ। आप ईश्वरवादी हों अथवा अनीश्वरवादी, भौतिकवादी हों अथवा अध्यात्मवादी, इससे कोई हानि नहीं होती। क्योंकि एक बात सभी के लिए समान है। कौन सी बात? जो मिला है वह किसी का दिया हुआ है, अपना नहीं है। दूसरी बात है कि वह अपने लिए नहीं है। जो भी आपको मिला है वह न आपका है, न आपके लिए है। किसी का दिया हुआ है और किसी के लिए है। तो जिसके लिए है उसी का नाम जगत् है और जिसका दिया हुआ है; आस्तिक भाषा में उसी का नाम प्रभु है। तो जिस भाई को, जिस बहन को जो मिला है, वह प्रभु का दिया हुआ है और वह जगत् के लिए है। फिर अपने लिए क्या है? भैया, अपने लिए तो प्रभु हैं। अपने को प्रभु से क्या मिलेगा? अपने को प्रभु से क्या मिलेगा, यह तो बात कोई ज्यादा मूल्यवान नहीं है। अपने से प्रभु को मिलेगी आत्मीयता, प्रियता, आस्था और विश्वास। ये सारी बातें साधक से साध्य को मिलती हैं। तो क्या ये साधक की अपनी वस्तु हैं? बोले, नहीं-नहीं, साध्य ने दी हैं; इसलिए कि हम ये तुम्हें दिये देते हैं, तुम हमें देना। फिर हम तुम्हारे दिये हुए से अपने को कृतकृत्य मानेंगे। ऐसा साध्य को क्यों सूझा? यह तो वे ही जानें, अपने को पता नहीं। पर बात मेरी दृष्टि से अक्षरशः सत्य है।

आपके ऊपर कितना दायित्व रह गया? अगर दिये हुए को, यानी मिले हुए को अपना मानकर दोगे, तो उसके बदले में बहुत-सा मिलेगा और उन्हीं का मानकर दोगे, तो स्वयं वे मिलेंगे। इतनी सी बात है, भाई। है तो मिला हुआ। किससे मिला हुआ है? तो जिसकी आपने सत्ता स्वीकार की। अगर जगत् की सत्ता स्वीकार की, तो जगत् से मिला है, प्रभु की सत्ता स्वीकार की, तो प्रभु से मिला है।

आपको जो मिला है उसका आप दुरुपयोग नहीं करेंगे। क्या यह बात आपको असंभव मालूम होती है? जो मिला है उसका आप दुरुपयोग नहीं करेंगे, यह निर्णय करना अगर असंभव नहीं है तो यह निर्णय भविष्य के लिए नहीं छोड़ना है। इस निर्णय में किसी और का आश्रय नहीं लेना है। स्वयं के द्वारा ही यह निर्णय कर लेना है कि हमें जो कुछ मिला है, उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। इस निर्णय के पश्चात् भी यदि दुरुपयोग कर बैठे, तो अपने को असमर्थ मानकर उससे व्यथित होना बहुत आवश्यक है। साधक के जीवन में जो असमर्थता है वह इस अर्थ में नहीं है कि जो उसे करना चाहिए था, वह कर नहीं सकता। इस अर्थ में होनी चाहिए कि जो उसे करना चाहिए था, वह उसने किया नहीं। एक तो असमर्थता ऐसी है कि अंधे को देखने की शक्ति नहीं है, वह बेचारा देख नहीं सकता। यह नहीं, इस प्रकार की असमर्थता साधक के जीवन में नहीं आती है। साधक के जीवन में इस प्रकार की असमर्थता है कि जिसे वह कर सकता है, नहीं किया। सच पूछिये तो वही शरणागति का अधिकारी है। लेकिन आजकल आप जानते हैं शरणागति के लिए उत्साह दिया जाता है, शरण्य की महिमा गाकर। जैसे, कोई कामुक पुरुष से कहे कि अमुक स्त्री की नाक बड़ी अच्छी है, उसकी आँखें सुन्दर हैं, उसके कान बड़े अच्छे हैं, उसकी वाणी में बड़ा रस है। क्यों? उसके मन में इस वर्णन से उसकी कामना तीव्र हो जाये। यह आजकल की प्रथा है, परन्तु वास्तव में यह अपने प्यारे का अपमान है। आप विचार करें, गंभीरता से विचार करें।

अपनी असमर्थता की व्यथा यदि हमें शरणागत नहीं कर सकती और सामर्थ्य का सद्व्यय यदि हमें असंगता नहीं दे सकता, तो क्या वास्तव में शरणागति होगी भी? क्या वास्तव में असंगता होगी? यदि मिले हुए का दुरुपयोग आप नहीं रोक सकते, तो क्या आपमें कर्त्तव्यपरायणता आयेगी? कदापि नहीं। तो मिले हुए का हम दुरुपयोग नहीं करेंगे; इस निश्चय के बाद कर्त्तव्यपरायणता आप चाहोगे तो आ जायेगी, न चाहोगे तो आ जायेगी। लेकिन एक बात और विशेष आयेगी। कौन–सी बात? यह कि उस कर्त्तव्यपरायणता का अभिमान नहीं बनेगा। आप कहें कि यह क्यों नहीं कहते कि हम तो मिले हुए का सदुपयोग करेंगे। यह क्यों कहें कि दुरुपयोग नहीं करेंगे। यदि आप कहें कि हम मिले हुए का सदुपयोग करेंगे, तो कर्त्तव्यपरायणता के आधार पर आपका सीमित अहम् जीवित रहेगा; यह क्षति होगी। इसलिए यह मत सोचिए कि हम सत्य बालेंगे। पर यह सोचिए कि हम झूठ नहीं बोलेंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी की सेवा करेंगे। पर यह सोचिए कि हम किसी को

हानि नहीं पहुँचायेंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी को आदर देंगे; पर यह सोचिए कि हम किसी का अनादर नहीं करेंगे। यह मत सोचिए कि हम किसी का भला करेंगे; यह सोचिए कि हम किसी का बुरा नहीं करेंगे। क्यों? इसलिए कि निषेधात्मक जो निर्णय होता है उसमें सामर्थ्य की अपेक्षा नहीं होती, उसका अभिमान नहीं होता, उसमें अहम् सुन्दर नहीं बनता; अहम् का नाश होता है। इसलिए यदि आप विश्राम चाहते हैं, तो चाहे साधन हो विश्राम, चाहे साध्य रूप हो, विश्राम उसी को मिलेगा जो मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेगा। उसको जरूर विश्राम मिलेग। वह चाहे तो मिले, न चाहे तो मिले।

आप विचार कीजिए, जिस समय आपने यह निर्णय कर लिया कि हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, उसी समय दो स्थितियाँ आपके सामने आ जायेंगी,-या तो सद्व्यय होने लगेगा या विश्राम मिलेगा। तो जब सद्व्यय होने लगे तब सजगता रखनी होगी कि यह मत मान बैठिए कि हमने किया था। क्यों? आपने दुरुपयोग न करने का निर्णय किया, आपने सद्व्यय करने की प्रतिज्ञा नहीं की है। तो, जब सद्व्यय होने लगे तब उसका अभिमान मत कर बैठना। इससे क्या लाभ होगा? तो भैया, फल कौन माँगता है? जो कुछ करता है। जब कुछ किया ही नहीं, तो फल क्यों माँगोगे? निष्कामता आ जायेगी कि नहीं? फलासक्ति मिट जायेगी कि नहीं? आप विचार करें। आप कुछ तब माँगते हैं, जब करने के बाद आप कहते कि हमने कुछ किया है, उसका फल दीजिए। किन्तु, जब आपने कुछ किया ही नहीं, तब आपको फल माँगने का क्या अधिकार है? देखिए, जहाँ करने का कुछ अभिमान नहीं मालूम होता, वहाँ फल में आसक्ति भी नहीं मालूम होती, फल की आशा भी नहीं होती, फल का चिन्तन भी नहीं होता। और जब करने का अभिमान रहता है, तब फल का चिन्तन भी रहता है, फल की आसक्ति भी रहती है। इसलिए जो वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म आपने किया, अगर उसके करने के अन्त में उसकी स्मृति आती है, अथवा उसके फल की स्मृति होती है अथवा भविष्य के काम का स्मरण आता है बिना विश्राम काल के, तो समझना चाहिए कि सद्व्यय करने का अभिमान है और जिसको सत्य बोलने का अभिमान है वह चाहे युधिष्ठिर ही क्यों न हो, कभी-न-कभी झूठ अवश्य बोलेगा।

आप सोचिए, भगवान् श्यामसुन्दर को क्या मजाक सूझा! आज तक आपने किसी से नहीं सुना होगा, हमने तो किसी कथावाचक से नहीं सुना कि युधिष्ठिर झूठ बोले। यह सुना कि कृष्ण बड़ा नटखट था, युधिष्ठिर से झूठ बुलवा लिया। यही न कहते हैं सब लोग? कोई नहीं कहता कि युधिष्ठिर झूठ बोले। जरा सोचिए तो, उस नटखट का नटखटपन तो देखिए! अगर पांडवों से

यह बात पूछी जाय कि भैया! यह बताओ कि विजय-कामना तुम्हारे मन में थी कि नहीं, तो कोई इन्कार कर सकता है? पांडव कह सकते हैं कि हम विजय नहीं चाहते थे, मैं आपसे पूछता हूँ कि कामना के रहते हुए कोई सत्य का अनुसरण कर सकता है? यह प्यारे श्यामसुन्दर की महिमा देखो। हाय, कलंक अपने ऊपर और विजय दूसरे को! विचार करो, ऐसा दोस्त मिलेगा दुनिया में जो कलंक अपने ऊपर ले और कामना-पूर्ति तुम्हारी करे? तो, हमारे प्यारे इस ढंग से काम करते हैं। और आपके पास कुछ था ही नहीं हजरत, मिला था और उसका सदुपयोग करने के लिए विवेकरूपी विधान भी मिला था। विधान आपके पास, सामर्थ्य आपके पास और करने की स्वाधीनता आपके पास और आप उसका अभिमान करते हैं! अगर अभिमान करें तो कोई ऐसा जज नहीं जो फाँसी का हकदार न हो जाये। अगर जज लिखता है कि मैंने फाँसी दी, तो बदले में उसे फाँसी मिलेगी कि नहीं? अगर मजिस्ट्रेट लिखता है कि मैंने सजा दी, तो उसके बदले में उसको सजा मिलनी चाहिए कि नहीं? लेकिन हर मजिस्ट्रेट जानता है कि पावर सरकार की है मेरी नहीं है, कानून के दिये हुए विधान से वह काम कर देता है। इसलिए मजिस्ट्रेट अपराधी नहीं होता।

उसी प्रकार हमें और आपको वस्तु मिली है, योग्यता मिली है, सामर्थ्य मिली है, विवेकरूपी विधान मिला है और प्रभु ने उसके उपयोग करने की पूरी स्वाधीनता दी है। तो यदि हम यह निर्णय कर लें कि मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो आप सच मानिए, कर्त्तव्य-परायणता का अवतरण होगा आपके जीवन में और यह जो कर्त्तव्यपरायणता है, मालूम है वह क्या है? यह भौतिक जगत् की साधना है। कर्त्तव्य-परायणता के दो फल हैं-करने के राग की निवृत्ति और सुन्दर समाज का निर्माण। इसलिए जब मानव के हृदय में कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति होती है, तो उसे राष्ट्र की आवश्यकता नहीं रहती है। यह पहचान है। और, जिस समाज को राष्ट्र की आवश्यकता रहती है तो उस समाज के बारे में समझना चाहिए कि वह कर्त्तव्यपरायणता से बहुत दूर है, चाहे उसने बढ़िया सड़कें बना दी हों, चाहे सबको खाना दे दिया हो; सामान दे दिया हो, पर कर्त्तव्य से बहुत दूर है। उसका परिणाम मालूम है क्या होगा? दो देशों में, दो दलों में, दो व्यक्तियों में संघर्ष होगा। राष्ट्र के द्वारा शांति की स्थापना संभव नहीं है।

इसलिए भाई, विश्राम में जीवन है, विश्राम ही जीवन है। दोनों ही बातें ठीक हैं। "विश्राम में जीवन है, विश्राम ही जीवन है", यदि यह पाठ हमें याद हो जाये, यदि हम इस पाठ को स्वीकार कर लें, तो विश्राम मिल सकता है।

आप जानते हैं, विश्राम में कोई पराधीन नहीं है। क्यों? आप जो कुछ करते हैं उसके पूर्व और उसके अन्त में क्या विश्राम नहीं था? क्या बोलने से पहले और न बोलने में विश्राम नहीं था? बोलने के अन्त में क्या विश्राम नहीं है? तो विश्राम अप्राप्त नहीं है भाई। विश्राम तो प्राप्त ही है। अब उस प्राप्त विश्राम में आपकी आस्था कितनी है, आपकी श्रद्धा कितनी है, आपकी आत्मीयता कितनी है, आपका विश्वास उसमें कितना है! किसमें? जो विश्राम प्राप्त है, उसमें। इस दृष्टि से हम मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, यह हम सबके लिए अनिवार्य है, अत्यन्त आवश्यक है।

अब आगे सोचिए कि जब सदुपयोग होने लगे, तब उसका अभिमान मत करना कि हमने किया है। उससे क्या होगा कि किए हुए के फल की जो आसक्ति थी, किए हुए का जो चिन्तन होता था, वह नाश हो जायेगा अपने आप। तो जहाँ किए हुए के फल की आसक्ति नाश हो गयी, किए हुए का चिन्तन नाश हो गया, वहाँ अल्पकाल के लिए विश्राम आ जायेगा और फिर जो कार्यक्रम अनन्त के विधान से निश्चित है उसकी उत्पत्ति होगी और उसकी पूर्ति होकर उसकी निवृत्ति होगी। इस प्रकार प्रत्येक कार्य के आदि और अन्त में विश्राम मिलेगा। उसी विश्राम में से भौतिकवादी को शक्ति, अर्थात् सामर्थ्य और अध्यात्मवादी को मुक्ति और आस्तिकवादी को भक्ति मिलेगी। अथवा यों कहो कि उस विश्राम में सामर्थ्य, असंगता और विरह की जागृति होगी। विरह की जागृति में प्रेम का प्रादुर्भाव है। असंगता ही स्वाधीनता की जननी है और सामर्थ्य ही कर्त्तव्य की प्रतीक है। इस दृष्टि से जीवन कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और शरणागति से युक्त होगा। विश्राम योगानन्द है, स्वाधीनता निजानन्द है और 'वह' प्रेमानन्द है। इस प्रकार हम सबका जीवन योगानन्द, निजानन्द और प्रेमानन्द से अभिन्न होगा, यह निर्विवाद सत्य है।

"हरि ॐ"

24 दिसम्बर, 1659, सायंकाल।

प्रवचन

4

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

सच बात तो यह है कि मैं कोई ऐसी नयी बात बताने नहीं आया हूँ जिसे आप लोग नहीं जानते हैं। आपकी जानी हुई बातों को ही आपकी सेवा में निवेदन करना है। सबसे पहली बात तो यह है कि आज जो हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं उसका आधार क्या है? किस पैमाने से नापते हैं? यह सबसे पहली बात है। आपको अपने जीवन का महत्त्व किसके आश्रित मालूम होता है? इस पर विचार करें। यदि किसी वस्तु विशेष के आश्रित हम और आप जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो वह महत्त्व अपने जीवन का न होकर किसी वस्तु का हो जाता है। यदि किसी परिस्थिति के आश्रित हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो वह महत्त्व किसी परिस्थिति का हुआ और किसी अवस्था विशेष के आश्रित यदि हम अपने जीवन का मूल्यांकन करते हैं तो महत्त्व अवस्था का हुआ, अपना नहीं हुआ। तो हमसे सबसे बड़ी भूल यह हुई कि हम अपने जीवन के महत्त्व को भूल गए। उदाहरण लीजिए। जब अपना देश विदेशियों के अधीन था तब हम लोग यह सोचते थे कि विदेशी साम्राज्य के चले जाने के बाद हम न जाने कितने सुन्दर हो जायेंगे! ऐसा मैं सोचता था और यहाँ जो लोग बैठे हैं उनमें से कुछ मित्रों को तो मैं जानता हूँ; सम्भव है वह भी सोचते होंगे, परन्तु परिस्थिति बदल गयी और सौन्दर्य के साम्राज्य में प्रवेश नहीं हुआ। क्या यह बात आज हम लोगों से छिपी है? जीवन के छोटे-छोटे कार्यों में देखिए। कुछ लोग सोचते हैं कि अमुक व्यक्ति के मिल जाने से हमारे जीवन का मूल्य ठीक हो जायेगा, अमुक वस्तु के मिल जाने से हमारे जीवन का मूल्य ठीक हो जायेगा, अमुक पद के मिल जाने से हम अपने को ठीक कर लेंगे।

ऐसा सोचकर अप्राप्त वस्तु का, अप्राप्त व्यक्ति का, अप्राप्त परिस्थिति का, अप्राप्त अवस्था का चिन्तन करते हैं; किन्तु इस बात पर विचार नहीं करते कि जो मूल्य हमारा अपना मूल्य नहीं है, क्या वह भी मूल्य है? कदापि नहीं। आप गम्भीरता से विचार करें, गहरी नींद में हम सभी अपनी परिस्थितियों से अलग होते हैं और उस समय आप यह नहीं कह सकते हैं कि हम लोग दु:खी हैं। इतना ही नहीं, आप यह भी नहीं कह सकते हैं कि हम

लोग सुषुप्ति के बिना रह सकते हैं। आप बड़ी से बड़ी परिस्थितियों का, बड़े से बड़े प्यारे व्यक्तियों का परित्याग कर देते हैं गहरी नींद के लिए, जिसमें जड़ता का दोष है। अगर कहीं ऐसी नींद आ जाये जिसमें जड़ता का दोष न हो और वस्तु, व्यक्ति, देश, काल अवस्था का आश्रय न हो, तो क्या वह मूल्य आपका मूल्य नहीं होगा? अवश्य होगा। इसलिए भाई, प्रत्येक देश व वर्ग के व्यक्ति को सबसे पहले यह बात सामने रखनी चाहिए कि जब हम बे सामान और बे साथी के होंगे तब जीवन होगा या नहीं! यदि आपका निर्णय-मेरा निर्णय नहीं-आपको यह बताए कि जीवन होगा, तो जीवन मिल सकता है और यदि आपका निर्णय यह बताए कि जब हम बे सामान के होंगे तो जीवन नहीं होगा, तो सरकार! जीवन मिल ही नहीं सकता। किस भाई का, किस बहन का यह अनुभव नहीं है कि प्यारे से प्यारा साथी सदैव के लिए साथी नहीं है, प्यारी से प्यारी वस्तु सदैव के लिए अपनी नहीं है? कौन इस बात को नहीं जानता? क्या यह बात मानवमात्र की अपनी बात नहीं है? देखिए, लोगों को भ्रम होता होगा कि मानव-सेवा-संघ क्या बीमारी चली। मानव-सेवा-संघ का अर्थ क्या है? मानव का अपना संघ। मानव-सेवा-संघ की बात क्या है? मानव की अपनी बात।

मैं तो लोगों से कहता हूँ कि जो लोग मानव-सेवा-संघ की बात को नहीं मानते, वे मानों अपनी बात नहीं मानते। विचार करें; ठंडे दिमाग से सोचें कि यदि बिना साथी और बिना समान का आपका जीवन नहीं है, तो सरकार! जीवन ही नहीं है। और वह एक कल्पना नहीं है, एक भावना नहीं है, वास्तविकता है। आप उसका अनुभव अभी कर सकते हैं, अभी-अभी। मिले हुए की ममता के त्याग से कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप मिले हुए को गंगा में डाल दें। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि आप मिले हुए का सदुपयोग न करें। केवल इतनी-सी बात है कि मिले हुए को अपना न मानें। क्यों? क्यों अपना न मानिए?

आप ही सोचिए, हमको सत्संग के लिए यह हॉल मिला है। क्या इसको हम अपना मान सकते हैं? इसका हम उपयोग कर सकते हैं, या हम इसको अपना मान सकते हैं? कहना पड़ेगा कि अपना मानते ही कान पकड़ के निकाल दिए जायेंगे और उपयोग करने में कोई आपत्ति नहीं आयेगी। क्यों? आप लोग अपनी इस बात को नहीं मानेंगे? क्या भविष्य पर छोड़ेंगे, धीरे-धीरे करेंगे? सोचे और विचारें। यह बात धीरे-धीरे करने की नहीं है। यह बात भविष्य पर छोड़ने की नहीं है। यह बात किसी और के द्वारा नहीं होगी। यह बात मेरे भाई, आपको अभी-अभी करनी पड़ेगी। और यदि नहीं करेंगे तो

मालूम है क्या दुर्दशा होगी? तब यह दुर्दशा होगी कि आपके जीवन में अप्राप्त परिस्थितियों का, अप्राप्त वस्तुओं का, अप्राप्त व्यक्तियों का चिन्तन होगा, चिन्तन। उसे आपकी साइंस नहीं रोक सकती, उसे आपका पद नहीं रोक सकता, उसे आपका साहित्य नहीं रोक सकता, उसे आपका बैंक का एकाउन्ट नहीं रोक सकता, डिग्रियाँ नहीं रोक सकतीं जनाब, डिग्रियाँ उस चिन्तन को। और आप जानते हैं, जो उन अप्राप्त परिस्थितियों का चिन्तन करता है वह प्राप्त परिस्थिति का स्वागत नहीं कर सकता है। जो बेटा मिला है वह बुरा लगता है, अच्छा मिलता नहीं, जो लुगाई मिली है वह बुरी लगती है, अच्छी मिलती नहीं। जो मकान मिला है वह अच्छा लगता नहीं और बढ़िया मिलता नहीं। जो योग्यता मिली है वह पसन्द नहीं, आगे बढ़ती नहीं।

सोचो जीवन को सामने रखकर। मैंने भैया जीवन का अध्ययन किया है, विद्या का नहीं किया है। सोचो तो, हमसे सबसे बड़ी भूल क्या हुई? अपने महत्त्व को भूले। और दूसरी भूल मालूम है क्या हुई? जो परिस्थिति हमें मिली थी या मिली है उसका न तो स्वागत किया और न सदुपयोग किया। यह बड़ी भारी भूल है। यह मामूली भूल नहीं है। आज बड़े-बड़े नीतिज्ञ हिन्दुस्तान को अमेरिका के समान सम्पन्न देखना चाहते हैं; रूस के समान समर्थ देखना चाहते हैं और लंदन के समान नीतिज्ञ देखना चाहते हैं।

मैं पूछता हूँ कि अमेरिका में सी० आई० डी० है कि नहीं, न्यायालय है कि नहीं, फौज है कि नहीं, दूसरे देशों के साथ विद्रोह है कि नहीं? कौन-सी बात अमेरिका में ऐसी है जो हिन्दुस्तान में नहीं है? आप कहेंगे, बढ़िया मकान नहीं हैं, अधिक सामान नहीं है, अच्छे अस्पताल नहीं हैं। ठीक; रहने वाले पागल हैं या बुद्धिमान? बुरा मत मानना। मैं अमेरिकन को पागल नहीं कहता हूं। किसी देश के रहने वालों को पागल नहीं कहता हूँ। अगर रहने वाले बुद्धिमान हैं तो लड़ाई के सामान से किसकी रक्षा होगी? मैं पूछता हूँ आपसे। विचार करो। गम्भीरता से विचार करो कि लड़ाई का सामान नाश में काम आयेगा कि विकास में, क्या कोई भी सबल अधिक बल पर विजयी होगा? कदापि नहीं। समान बल पर विजयी होगा? कदापि नहीं। किस पर विजयी होगा, निर्बल पर। तो बल से निर्बल को डराने वाला देश, क्या विकसित देश कहलायेगा? मानव-सेवा-संघ इस विकास का घोर विरोध करता है।

मानव-सेवा-संघ कहता है कि देखो, विकसित मानव, विकसित समाज वह है, जो किसी का शासक न हो और न किसी से शासित हो। जो वर्ग किसी वर्ग का शासक है, जो व्यक्ति किसी व्यक्ति का शासक है, अथवा जो व्यक्ति किसी व्यक्ति से शासित है वह वर्ग, व्यक्ति या देश विकसित नहीं है।

वह अधूरा जीवन है। तो आप कहेंगे कि क्या संभव हो सकता है कि हम किसी से शासित न हों? तो यह सर्वदा संभव है। हम किसी के शासक न हों, सर्वदा संभव है। तो यह असम्भव नहीं है। कब? देखो, कितनी सरल बात है, मिले हुए का हम दुरुपयोग न करें तब। यह नहीं कि हमारे पास यह नहीं है, हमारे पास वह नहीं है। अजी, हम पढे-लिखे लोगों से सुनते हैं कि राइट्स चाहिए, यह मिलना चाहिए, वह मिलना चाहिए। जो मिल पाया उसका तो उपयोग नहीं कर पाये, देवता! और मिलेगा, तो और सर्वनाश करोगे। मिले हुए का दुरुपयोग न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के। सुने हुए में अश्रद्धा न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के। जाने हुए का अनादर न करें, आप शासित नहीं रह सकते किसी के। और मिले हुए का दुरुपयोग करते हुए, जाने हुए का अनादर करते हुए, सुने हुए में अश्रद्धा रखते हुए आप सदा दासता में आबद्ध रहेंगे, रहेंगे, रहेंगे। और जब आप दासता में आबद्ध होंगे तो मालूम है आप क्या करेंगे? जो किसी की दासता में बँधा है वही किसी को दास बनाने के प्रयास में लगा है। जो देश किसी दूसरे देश पर अधिकार करना चाहता है वह देश किसी की दासता में आबद्ध है, जो वर्ग किसी वर्ग का दास बनाना चाहता है, वह वर्ग किसी वर्ग की दासता में आबद्ध है। और वह दासता जिसमें आप और हम आबद्ध हैं, उस दासता को दूसरा नहीं मिटायेगा। सच बात तो यह है कि दूसरा बता भी नहीं पायेगा, मिटाना तो और बात।

इसलिए मेरे भाइयो, धीरज के साथ, ठंडी तबियत से एक बार इस पर विचार करो कि आपका अपना महत्त्व क्या है! वस्तु के महत्त्व से आप अपरिचित नहीं हैं, व्यक्ति के महत्त्व से आप अपरिचित नहीं हैं, पदों के महत्त्व से आप अपरिचित नहीं हैं, ज्ञान-विज्ञान के और कलाओं के महत्त्व से आप अपरिचित नहीं हैं । आप अपरिचित हैं तो अपने महत्त्व से। आप जानते हैं, आपका महत्त्व क्या है? आपका महत्त्व है कि आप जगत् के लिए-बिल्कुल ईमानदारी की बात है- बिल्कुल उपयोगी हो सकते हैं। यह महत्त्व किसी परिस्थिति का नहीं है, यह महत्त्व किसी अवस्था का नहीं है, यह महत्त्व किसी वस्तु का नहीं है, यह महत्त्व किसी वर्ग विशेष का नहीं है, यह महत्त्व किसी पद्धति विशेष का नहीं है। यह आपका महत्त्व है। आप इतने सुन्दर हैं! आप कहेंगे, कैसे? सीधी बात है। एक बात बताओ, भैया! जिस संसार को आप देखते हैं उसमें दो चीजें दिखाई देती हैं, किसी के सम्बन्ध में यह निर्णय करते हो कि यह सुखी है और भैया! किसी के सम्बन्ध में यह निर्णय करते हो कि यह दु:खी है। तीसरी चीज दिखाई दी है किसी को? मैं

पूछता हूँ; जल्दी बता दो। देर करोगे, तो नहीं सुनूँगा। सुखी और दुःखी के अतिरिक्त कोई और चीज देखी है आपने जगत् में? इसका मतलब है कि आप बताना नहीं चाहते हैं या आपने स्वीकार कर लिया है। अच्छा, एक बात आपसे हम पूछें कि जब आपकी दृष्टि सुखी पर पड़े और आप उसे देख करके प्रसन्न हो जायें; सच ईमानदारी से बताओ कि वह सुखी तुम्हारी आवश्यकता अनुभव करेगा कि नहीं? या जब कोई आपको सुखी देखता है और प्रसन्न होता है, तब यह आपको प्यारा लगता है या नहीं? अनुभव करो। ऐसे ही यदि आपकी दृष्टि किसी दुःखी पर पड़े और आपका हृदय करुणित हो जाय, तो दुःखी आपकी आवश्यकता अनुभव करेगा कि नहीं? लोग सेवा के नाम पर भोग करते हैं। भैया, भूल न करना।

जब हमारा देश आजाद हुआ, तब एक बार कांस्टीट्यूशन हाउस, देहली में राजेद्र बाबू ने कुछ मित्रों के साथ मिलकर मुझसे बातें की। मैंने कहा, बाबूजी! सेवा का अन्त त्याग में होना चाहिए, मिनिस्ट्री में नहीं। कहने लगे, ऐसे आदमी कहाँ से आयें? मैंने कहा, अपने को मान लें, आप हो जायें। तो वे हँस गए, हम भी हँस गए। आप सोचिए, आप सेवा का नाम लेते हैं और पद से अपना नाम अंकित करते हैं। क्या वह कभी सेवक हो सकता है ईमादारी से, जो अपने प्राणों को भी अपना मानता हो? त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। माफ कीजिए। जिसके प्राण अपने हैं, जिसका मन अपना है, वह सेवक नहीं। जिसकी योग्यता अपनी है, वह सेवक नहीं; तो फिर बाहरी वस्तुओं की तो बात ही दूसरी है। तो सेवक कौन हो सकता है? जिसके पास अपना करके अपना कुछ नहीं है। तो है क्या? जिसका हृदय दुखियों को देख कर करुणित हो जाये, सुखियों को देख जिसका चित्त प्रसन्न हो जाये।

मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या वह सेवा मुझ जैसा भिखारी नहीं कर सकता? कौन ईमादार व्यक्ति कह सकता है कि हम सेवा करने में पराधीन हैं? लोग सोचते हैं कि धन होगा, तो सेवा करेंगे। अरे, तन है उससे तो करते नहीं। बहुत से लोगों ने क्या सोचा मालूम है? कि जब हम सरकार हो जायेंगे तो हम सेवा करेंगे। अरे! घर में लुगाई की नहीं की, बाप बनकर बेटे की नहीं की, भाई बनकर भाई की नहीं की। सरकार बनकर देश की करोगे? भोग करोगे भोग! रोग और शोक में फँसोगे, नहीं बच सकते। चैन से नहीं मर सकते दोस्त! इसलिए भाई, यदि सेवा करनी है, तो दुखियों का देख हृदय करुणा से भर लो। मालूम है, क्या मिलेगा इसका फल? आपके जीवन में सुख-भोग की रुचि नहीं रहेगी। और जिसके जीवन में सुख-भोग की रुचि नहीं रहती वह करता क्या है? वह मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करता। जब

मिले हुए का दुरुपयोग नहीं किया, सुख भोग की रुचि नाश हो गयी, तो मिले हुए के सदुपयोग से सबल और निर्बल में, दु:खी और सुखी में, दो वर्गों में दो देशों में, दो व्यक्तियों में एकता आ जायेगी कि नहीं? अगर ईमानदार हैं हम लोग, तो मानना पड़ेगा कि आ जायेगी। क्या एकता आने पर भी लड़ाई के सामान की जरूरत होगी? क्या एकता आ जाने पर न्यायशाला खोली जायेगी? विचार करो, गम्भीरता से विचार करो।

जो समाज राष्ट्र की आवश्यकता का अनुभव करता है, वह समाज कम से कम मानव-समाज तो नहीं है। इसलिए भाई, मानव समाज पर यह कलंक है कि हमारे ऊपर किसी का शासन हो, हमारा किसी पर शासन हो। यह मिटाना होगा और इसे प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन स्वाधीनतापूर्वक मिटा सकते हैं। एक वक्ता ने अपने भाषण में कहा कि जो चीज जीवन में आ जाती है वह विभु हो जाती है। इस बात का इन्तजार मत करो कि कोई और आयेगा और उसके द्वारा समाज का पुनर्निर्माण होगा। बहुत-से लोगों का यह भी भ्रम है कि कोई आयेगा अपूर्व पुरुष। अजी भाई! आप जितने अपूर्व हैं उससे ज्यादा अपूर्व कोई और नहीं आयेगा। लेकिन आपने अपनी अपूर्वता पर, अपनी महत्ता पर दृष्टि नहीं रखी इसलिए भाई, यह कार्य प्रत्येक भाई व प्रत्येक बहन को अपने द्वारा अपनी रुचि से, अपना समझकर करना है कि हम दु:खी को देखकर करुणित जरूर होंगे और सुखी को देखकर प्रसन्न जरूर होंगे। आप कहें कि हमारे जीवन में करुणा और प्रसन्नता नहीं है, तो आपको किसी को देखने का अधिकार नहीं है। अगर आप सेवा नहीं कर सकते, तो आप संसार को नहीं देख सकते। चले जाओ इन्द्रियदृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से परे। वह भी साधन है। मानव-सेवा संघ किसी की स्वाधीनता का अपहरण नहीं करता।

अगर आप दु:खी को देखकर करूणित और सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते, तो सभी दृष्टियों से अतीत, अनन्त में नित वास करो। तब क्या होगा? तब भी मिले हुए की ममता नहीं रहेगी, दुरुपयोग की रुचि नहीं रहेगी। तो या तो जगत् को देखो अथवा मत देखो, परन्तु देखो और करुणा न जगे, देखो और प्रसन्नता न हो, तो भाई, यह अमानवता की बात है। तो इस अमानवता का अन्त प्रत्येक देश के प्रत्येक भाई को प्रत्येक बहन को, अभी करना है।

हाँ, एक बात जरूर है। यह जो करुणा आपकी जगे या प्रसन्नता आपकी जगे, तो उसका आश्रय क्या हो? उसका आश्रय वही हो, जो आपका दर्शन हो जो आपका दृष्टिकोण हो। अगर आपके दृष्टिकोण में जगत् की सत्ता है, तो विश्व के नाते ही करुणित हो जाओ और विश्व के नाते ही प्रसन्न हो

जाओ। अगर आपका दर्शन अध्यात्मवादी है तो आत्मा के नाते करुणित हो जाओ, आत्मा के नाते प्रसन्न हो जाओ। तब आपको गति मिलेगी ही। अगर आपकी दृष्टि ईश्वरवादी है, तो प्रभु के नाते करुणित हो जाओ, प्रभु के नाते प्रसन्न हो जाओ। आपको प्रभु का प्रेम मिलेगा। तो आपको मिलेगा क्या? प्रेम, प्रेम मिलेगा।

आप जानते हैं, प्रेम में एक विलक्षणता है और वह विलक्षणता यह है कि उसका आरम्भ कहीं से हो, पर वह विभु हो जाता है। एक तो यह विलक्षणता है और दूसरी विलक्षणता क्या है कि प्रेम ही एक ऐसा तत्त्व है जिसकी कभी निवृत्ति नहीं होती, जिसकी कभी क्षति नहीं होती है और जिसकी कभी पूर्ति नहीं होती। क्यों? निवृत्ति काम की होती है, पूर्ति जिज्ञासा की होती है और प्राप्ति प्रेम की होती है। तो पूर्ति, क्षति और निवृत्ति से रहित जो प्रेम-तत्त्व है, वह प्रेम-तत्त्व अगाध, अनन्त रस का प्रतीक है। रस किसी परिस्थिति में नहीं है, रस किसी वस्तु और व्यक्ति में नहीं है। रस है प्रियता में और प्रियता है आत्मीयता में और आत्मीयता है स्वीकृति में, आस्था में। तो आपने जगत् में आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, अपने में अपनी आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, प्रभु में आस्था की, तो कोई आपत्ति नहीं है, आपने जिसमें आस्था स्वीकार की, उसी का प्रेम आपको मिलेगा। परन्तु कब मिलेगा? जब प्रत्येक प्रवृत्ति-यह नहीं कि कोई एक प्रवृत्ति-उसी के नाते होगी। उसी के नाते हो, उसी के लिए हो और अपने लिए किसी प्रकार की कोई आशा न हो। बोले, क्यों? यदि प्रेम-तत्त्व से बढ़कर कोई वस्तु होती, तो मैं पहला आदमी था, जो कहता कि जो कुछ करो, वह किसी के बदले की आशा से करो।

लेकिन जब मैं इस बात को जानता हूँ कि प्रेम-तत्त्व में जो रस है वह रस कहीं है नहीं। तो फिर प्रेम-तत्त्व की जो प्राप्ति है, वह किए हुए के बदले में कुछ भी माँगने से नहीं होती और न करने के राग की निवृत्ति होती है। और जब करने के राग की निवृत्ति नहीं होती, तो कुछ भी करने के लिए उत्पन्न हुए शरीर की आवश्यकता होती है, उत्पन्न हुई वस्तुओं की आवश्यकता होती है, व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। तो जब तक जीवन में करने का राग है, तब तक वस्तु-अवस्था-परिस्थिति की दासता है और जब तक उनकी दासता है, तब तक अपने मूल्य का ज्ञान नहीं है, अपने महत्त्व का ज्ञान नहीं है। अपने महत्त्व की विस्मृति में सर्वनाश है। इसलिए भाई! आज इस बात की आवश्यकता है कि हम मानव-जीवन का महत्त्व जानें, परिस्थितियों का सदुपयोग करें। इसका अर्थ कोई भाई यह न समझ बैठे

कि मैं किसी दु:खमय परिस्थिति को चाहता हूँ, ऐसा न समझ लें। लेकिन मैं एक आपसे निवेदन कर दूँ कि यदि हम और आप मिली हुई परिस्थिति का स्वागत नहीं कर सकते, आदरपूर्वक उसका सदुपयोग नहीं कर सकते, उसमें से जीवन-बुद्धि नहीं हटा सकते, अप्राप्त वस्तु के चिन्तन को नहीं छोड़ सकते, तो सच मानिए, न भौतिक विकास होगा, न सद्‌गति होगी और न प्रेम की प्राप्ति होगी। और यदि आप और हम प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत कर सकते हैं, उसमें से जीवन-बुद्धि का त्याग कर सकते हैं, उसका दुरुपयोग नहीं करते हैं, तो सच मानिए, यही परिस्थिति, जिसे आप नापसन्द करते हैं आपको प्रेम-तत्त्व से अभिन्न कर सकती है, आपको चिर-विश्राम प्रदान कर सकती है, आपको स्वधीनता दे सकती है, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है।

इसलिए भाई, दो बातें हैं-अपने को अभागा मत मानो और भाग्यशीलता का घमण्ड मत करो। आप और हम मानव हैं, मानव होने के नाते सब एक हैं, परिस्थिति-भेद होने पर भी एक हैं, अवस्था भेद होने पर भी एक हैं। एक बात को जब आप स्वीकार करेंगे, तो एक मजदूर में वही स्वाभिमान होगा जो मिलओनर में; एक चपरासी में वही स्वाभिमान होगा जो एक राष्ट्रपति में। मैं यहाँ तक कहता हूँ कि रोगी में वही स्वाभिमान होगा जो एक डाक्टर में; क्योंकि रोगी के बिना डाक्टर जिन्दा नहीं रह सकता। यह सम्भव है कि प्राकृतिक नियम से रोग अच्छा हो जाये, पर यह सर्वदा असम्भव है कि रोगी के बिना डाक्टर भूखा न मर जाये। इसलिए हम सबकी परिस्थिति मंगलमय है, अदम्य है, चिन्मय है, किन्तु वह जीवन नहीं है। बस, इतनी सी बात है। इसी का नाम अध्यात्मवाद है। परिस्थिति जीवन नहीं है, वस्तु जीवन नहीं है, व्यक्ति जीवन नहीं है। व्यक्ति की सेवा करो, वस्तु का सद्‌व्यय करो। उसमें जीवन-बुद्धि स्थापित न करो। इसका फल यह होगा कि आपमें आपका जो महत्त्व है वह अभ्व्यिक्त होगा। उसी समय आप जगत् के लिए, जगत्पति के लिए, अपने लिए, उपयोगी सिद्ध हो जाएँगे। परन्तु भैया, इसके लिए एक बात सोचनी है और वह यह सोचनी है कि आप मानव होने के नाते इस बात के सदैव अधिकारी हैं कि आपका जीवन जगत् के लिए उपयोगी है, जगत् आपके लिए उपयोगी नहीं है। आपका जीवन प्रभु के लिए उपयोगी है। आपका जीवन आपके लिए उपयोगी है। इस पर अविचल श्रद्धा करो और आप सोने से पहले और जगने के बाद थोड़ी देर शान्त हो लो। जब आप शान्त हो जाएँगे, तो आपके जीवन में किए हुए का जो प्रभाव अंकित है, वह आपमें उथल-पुथल मचा देगा। उससे घबराना मत। उसे ऐसे ही देखना जैसे त्यागे हुए मल को देखते हो। भयभीत मत होना, तादात्म्य मत रखना, समर्थन मत

करना, विरोध मत करना। वह दबा हुआ प्रभाव प्रकट होकर नाश हो जाएगा और आप स्वयं में अपने प्रियतम को पाकर, जीवन को पाकर, प्रेम को पाकर, विश्राम और स्वाधीनता को पाकर कृतकृत्य हो जाएँगे। यह निर्विवाद सत्य है। मैंने ऐसी कोई बात नहीं बताई, जो आपकी बात नहीं है और ऐसी बात नहीं बताई, जिसे आप नहीं अपना सकते। इसलिए भाई! जीवन का मूल्य जानो और परिस्थिति का आदरपूर्वक स्वागत करो। बस, बेड़ा पार है।

॥ हरि ॐ ॥

25 दिसम्बर, 1959, प्रातःकाल।

प्रवचन

5

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

विश्राम की विमुखता और विस्मृति जीवन में है, दूरी नहीं, अप्राप्ति नहीं। किसी श्रम से पूर्व कोई संकल्प उत्पन्न होता है, उस संकल्प का उद्‌गम अपना व्यक्त्वि है। जब तक साधक अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाता है, सजाता है, किसी-न-किसी रूप में रखना चाहता है, तब तक वह विश्राम से विमुख रहता है। कुछ सोचते हैं कि निर्विकल्पता में विश्राम है। उससे भी आगे जब चलते हैं, तब वे सोचते हैं कि समता में विश्राम है। उससे भी आगे जब चलते हैं, तब सोचते हैं कि असंगता में विश्राम है और उससे भी आगे जब चलते हैं, तब सोचते हैं कि शरणागति में विश्राम है। निर्विकल्पता, समता, असंगता, और शरणागति-चार स्तम्भ हम लोगों को विश्राम के मालूम होते हैं। ये चारों विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश करने के दरवाजे हैं, इसलिए आदरणीय हैं, अनुसरणीय हैं। किन्तु कहीं हम दरवाजे पर बैठकर ही यह न स्वीकार कर लें कि हमारी विश्राम के साथ अभिन्नता हो गई। और यह भी न सोच बैठें कि जब तक मन निर्विकल्प नहीं होगा विश्राम नहीं मिलेगा; जब तक बुद्धि में समता नहीं आएगी विश्राम नहीं मिलेगा; जब तक तीनों शरीरों से असंगता न होगी विश्राम नहीं मिलेगा; जब तक शरणागति नहीं होगी विश्राम न मिलेगा- यह भी न सोच बैठें। क्यों? ये चारों दरवाजे व्यक्तिगत हैं।

व्यक्तिगत जो साधन होता है, वह व्यक्तिगत सिद्धिदायक होते हुए भी सामूहिक नहीं होता। किन्तु साधक को ईमानदारी से यह बात मालूम होती है कि यह सामूहिक है। तो जो लोग कहते हैं कि बिना निर्विकल्पता के विश्राम नहीं मिलेगा, बिना समता के नहीं मिलेगा, बिना असंगता के नहीं मिलेगा, बिना शरणागति के नहीं मिलेगा, तो वे गलत नहीं कहते, बिल्कुल ईमानदारी से कहते हैं और सही कहते हैं; क्योंकि उनको मिला है। परन्तु साधक को यह देखना है कि इन चारों दरवाजों में से उसके लिए कौन-सा दरवाजा सुलभ है, सहज है, स्वाभाविक है। अगर है, तो बड़ी सुन्दर बात, विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाएगा। कल्पना करो कि कोई मुझ जैसा अयोग्य व्यक्ति हो, जिसके लिए चारों ही दरवाजे असम्भव हो जायें, तो वह क्या करे? वह केवल यह करे कि पहले इस बात पर विचार करे कि उसे अपने लिए क्या चाहिए! वह

संसार से क्या आशा रखता है और अपने द्वारा अपने साथ क्या कर सकता है! तीन ही बातें न होंगी? या तो आप यह कहेंगे कि हमें संसार से कुछ लेना है या आप कहेंगे कि प्रभु से कुछ लेना है या आप कहेंगे कि हमें अपने साथ यह करना है। हम अपने लिए यह करेंगे, इससे हमें कुछ मिलेगा, हमें जगत् से कुछ मिलेगा, हमें प्रभु से कुछ मिलेगा। तो जब तक ये बातें जीवन में रहती हैं, तब तक विश्राम नहीं मिलता। क्यों? जगत् ने हमें वह बिना माँगे दिया है जिसमें हमारा हित है। इसलिए अब जगत् से कुछ मिलेगा, यह सोचना उस जगत् की ईमानदारी में सन्देह करना है और अपने और जगत् के बीच में एक गहरी खाई बना लेना है। इसलिए हमें कभी–भी यह नहीं सोचना चाहिए कि हमें जगत् से क्या मिलेगा। इसको और व्यावहारिक जीवन में देखो। जिस परिवार में आप रहते हैं, जिनके साथ आप रहते हैं, आप यह जो सोचते हैं कि उनसे हमें कुछ मिलेगा–हमें पुत्र से कुछ मिलेगा, हमें पत्नी से यह मिलेगा और हमें पड़ोसी से यह मिलेगा–तो यह सोचना ही विश्राम से विमुख होना है। तो फिर क्या सोचें? यह सोचें कि जो कुछ हमें मिला है, उसमें से किस–किस को क्या–क्या, किस–किस प्रकार देना है। यह सोचना है कि मिले हुए का वितरण करना है, वापिस करना है, लेने की बात अब नहीं सोचनी है; क्योंकि मिले हुए से आपने अपने जीवन में पूर्ति का अनुभव नहीं किया, तृप्ति का अनुभव नहीं किया। यदि किया होता, तो भी माँगना बंद हो जाता और नहीं हुआ, तब भी तो माँगना बंद करना चाहिए।

बस, हमसे यह भूल होती है। बच्चे पैदा किए, उनसे सन्तोष नहीं मिला, फिर भी बच्चों की आशा नहीं छोड़ते। शादी की, स्त्री से सन्तोष नहीं मिला, फिर भी स्त्री की माँग नहीं छोड़ते। समाज में घुसे, सेवाएँ कीं, और सेवाएँ करने से समाज से जो मिला उससे सन्तोष नही हुआ फिर भी समाज से माँगना बन्द नहीं करते। यह हमारी अपनी एक असावधानी है, यह हमारा एक अपना प्रमाद है कि जो मिला उससे सन्तोष नही हुआ, फिर भी माँगना बन्द नहीं करते। तो जब तक माँगना बन्द नहीं करते, तब तक श्रमित रहेंगे; चाहे आप ध्यान के श्रम से श्रमित हों, चाहे आप चिन्तन के श्रम से श्रमित हों और चाहे आप क्रियाशीलता के श्रम से श्रमित हों। क्रियाशीलता, चिन्तन और स्थिति को सुरक्षित रखना श्रम है। क्रियाशीलता सुरक्षित बनी रहे, चिन्तन सुरक्षित बना रहे, स्थिरता सुरक्षित बनी रहे, यह जो प्रलोभन है जीवन में, वही श्रम का मूल है। यह आप भी जानते हैं और हम भी जानते हैं कि क्रियाशीलता सदैव सुरक्षित नहीं रहेगी। एक समय आएगा कि यह वाणी बोल नहीं सकेगी। तो क्या समय आने से पूर्व सही बोलकर बोलने के राग का

त्याग नहीं कर सकते? एक समय आएगा कि ये श्रोत्र सुन नहीं सकेंगे। तो समय आने से पूर्व, क्या सुनकर सुनने के राग से रहित नहीं हो सकते? इसी प्रकार जो काम आज कर रहे हैं, एक समय आएगा कि उसे नहीं कर सकेंगे। वह समय तो आएगा ही। तब हमें सोचना ही पड़ेगा कि हमें क्या करना चाहिए! तब न सोचकर, समय आने से पूर्व ही न सुनने में भी, न देखने में भी, न सोचने में भी जीवन है-इसमें अविचल आस्था करें। लेकिन न देखना, क्या गलत देखने से मिलेगा? त्रिकाल में भी नहीं। न देखना सही देखने से मिलेगा। इसका नाम कर्त्तव्यपरायणता है।

कर्त्तव्यपरायणता करने के राग से रहित कर कर्त्ता को खा लेती है और सुन्दर समाज का निर्माण कर देती है। कर्त्तव्य-परायणता कर्त्ता में व्यक्ति का मोह नहीं रहने देती और उससे समाज की कोई क्षति भी नहीं होती। आज अगर हमें यह दिखाई देता है कि जब तक लोग हमारे इज्म और मजहब को नहीं मानेंगे, शान्ति स्थापित नहीं होगी। तो इज्म और मजहब चाहे भले ही सत्य हों, पर हम धोखे में हैं। वह हमारा इज्म हमसे दूर है। वह हमारा मजहब हमारे जीवन में नहीं है। यदि यह मालूम होता है कि हमारे मजहब से ही सबको सब कुछ मिलेगा। जब तक सभी 'ला इलाह इल्लिल्लाह', नहीं पढ़ेंगे, तब तक नजात नहीं मिलेगी। तो यह बात ठीक है, लेकिन वह 'ला इलाह इल्लिल्लाह' हम नहीं पढ़ पाए, यह बात अखंड सत्य है। अगर कहते हैं कि जब तक लोग शरणागत नहीं होंगे, तब तक उद्धार नहीं होगा। तो बात ठीक है, पर दोस्त, हम शरणागत नहीं हुए। अगर कहते हैं कि जब तक तीनों शरीरों से असंग नहीं हो जाओगे, उद्धार नहीं होगा। तो बात ठीक है, परन्तु यार हम असंग नहीं हुए। इस दृष्टि से प्रत्येक साधन अपने आपमें पूर्ण है, मुझको लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। लेकिन साधन पूर्ण है, साधन का अभिमान सर्वथा अपूर्ण है।

साधन की प्रियता साधक का जीवन है, साधन का महत्त्व साधक का जीवन है। लेकिन साधन का अभिमान और उसकी आसक्ति तथा साधन-जनित सुख का भोग, घोर असाधन है। इसलिए भाई, जो आप जानते तथा मानते हैं, चाहे गुरु से, चाहे ग्रन्थ से, चाहे निज-विवेक से, उसके अनुरूप जीवन होना है, उसका अभिमान नहीं करना है। इतना ही नहीं दूसरों की मान्यता का आदर करते हुए अपनी मान्यता का अनुसरण करना है, तभी हम लोगों का इज्म और मजहब आदर के योग्य हो सकता है। बोल-चाल की भाषा में आजकल शास्त्रीय ज्ञान को, जो कि विश्वास है, लोग ज्ञान कहते हैं। बोल-चाल की भाषा में गुरु के आदेश को भी, जो विश्वास है, लोग ज्ञान

कहते हैं। इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है कि कोई साधक विश्वास को ज्ञान माने; क्योंकि विश्वास भी सिद्धिदायक है। किन्तु ज्ञान और विश्वास दो स्वतन्त्र पथ हैं, यह मेरा मत है। किन्तु चाहे गुरु द्वारा सुना हुआ हो, चाहे ग्रन्थ के द्वारा पढ़ा हुआ हो, चाहे निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, वह आपका जीवन होना चाहिए। उसमें और आपमें भेद नहीं रहना चाहिए। इस वास्तविकता के लिए आपको प्रमाण नहीं ढूँढ़ना चाहिए। उसके विरोध और समर्थन से आपको न तो क्षोभित होना चाहिए और न बड़प्पन का ही भास होना चाहिए; कारण, कि सत्य एक है। वह सभी का है, किसी की व्यक्तिगत बपौती नहीं है। व्यक्तिगत केवल अपनी-अपनी श्रद्धा है, जो साधन रूप है। वह आपका ज्ञान, वह आपका विश्वास आपके लिए इतना सहज हो, इतना सुगम हो, इतना स्वतः हो कि उसके लिए आपको सोचना न पड़े, श्रमित न होना पड़े, उस पर दृष्टिपात न करना पड़े। यहाँ तक कि आपको यह भी न पता चले कि वह ज्ञान आपका ज्ञान है और वह आपमें है, इतना सहज हो जाये, इतना स्वाभाविक हो जाये। तब आपके साधन से आपको विश्राम मिलेगा।

मानव-सेवा-संघ ने एक सुन्दर बात बताई है कि साधक और साधन, ये दो जाति के नहीं है, ये अलग-अलग नहीं हैं। उसी साधक का निर्मल रूप साधन है। परन्तु इसका पता तब चलता है कि जब साधक में अपना जाना हुआ असाधन नहीं रहता। तो अपना जाना हुआ असाधन कब नहीं रहता? जब जीवन में अपने जाने हुऐ असत् का संग तोड़ देते हैं, तब नहीं रहता। यह जो असाधन दिखाई देता है न, यह असाधन उत्पन्न हो गया है, और उत्पन्न हो गया है, और उत्पन्न हो गया है, अपने जाने हुए असत् के संग से। उसके उत्पन्न होने का कोई और कारण नहीं है। मैं यह मानने को राजी नहीं हूँ कि व्यक्तिगत मान्यताओं को तर्क के स्तर पर रखने पर भी अपनी मान्यता ही दूसरों पर भय तथा प्रलोभन देकर लाद दी जाये। जैसे, एक बार श्रुति श्रीभगवती के प्राकट्य का एक उपाय सद्‌गुरु की प्रेरणा के आधार पर मैंने यह मान लिया कि ठहरी हुई बुद्धि में श्रुति अर्थात् वेद के ज्ञान का अवतरण होता है। उस ज्ञान के लिए किसी भाषा विशेष की अपेक्षा नहीं है। इस बात को सुनकर एक पढ़े-लिखे महानुभाव ने बड़ी सभा में अपने प्रवचन में यह कह दिया कि बे पढ़े-लिखे लोग वेदों की निंदा करते हैं। भला, कहीं वेदाध्ययन के बिना किसी को वेदों का ज्ञान हो सकता है?' मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि वे महानुभाव व्यक्तिगत रूप से ऐसा क्यों मानते हैं। परन्तु उनके इस आग्रह का कि अनन्त का नित्य ज्ञान किसी पोथी तथा भाषा में ही

आबद्ध है, मैं समर्थक नहीं हूँ। जब मानवमात्र की वास्तविक माँग एक है और दो व्यक्तियों में भी समान योग्यता नहीं है, तो किसी एक मान्यता से ही सभी को वास्तविकता की प्राप्ति हो सकती है, यह बात विवेक-विरुद्ध है।

यदि कोई महानुभाव सृष्टि के सम्बन्ध में अपनी आस्था के अनुसार कोई निर्णय रखते हैं, तो मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु अपने जाने हुए असत् के त्याग से जन्म-जन्मांतरों के कर्म संस्कार नष्ट नहीं होंगे और वर्त्तमान में ही साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता न होगी, अर्थात् प्रत्येक भाई-बहन के जीवन में से असाधन का नाश, साधन की अभिव्यक्ति नहीं होगी-यह मुझे किसी भी प्रकार से मान्य नहीं है। मानव साधक होने पर भी सिद्धि में पराधीन है, यह मत किसी भी साधक के लिए हितकर नहीं है।

कल्पना करो कि किसी ने प्रश्न किया कि महाप्रलय होने पर पुनः सृष्टि कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर अपने-अपने मत के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार का हो सकता है। परन्तु किसी एक उत्तर में ही आग्रह रखना उत्तरदाता का अपना व्यक्तिगत मत भले ही हो, वह समाधान नहीं है। महाप्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि होने में यदि कोई उत्तरदाता यह कहे कि जीवों के जो कर्म-संस्कार शेष हैं, उन्हीं के आधार पर पुनः सृष्टि होती रहती है। तो इस उत्तर के सम्बन्ध में यह पूछा जाये कि सबसे पूर्व जब सृष्टि हुई थी, तब जीवों के कौन-से कर्म थे? विचार करो भाई, सृष्टिकर्ता और जीव, क्या सृष्टि से भिन्न हैं? यदि भिन्न हैं, तो जब सृष्टि नहीं थी, तब जीव और सृष्टि-कर्त्ता कहाँ थे, क्या थे, यदि ये तीनों अभिन्न हैं तो सृष्टि के होने में जीवों के कर्म किस युक्ति से सिद्ध होते हैं? इसका निर्विवाद उत्तर किसी से नहीं मिला; क्योंकि सृष्टि होने पर ही जीवों और कर्मों की बात सामने आती है। सृष्टि के अस्तित्व को बनाए रखने पर उसके कारण के सम्बन्ध में जितने उत्तर दिये जाते हैं, वे सब मेरे जानते श्रद्धा-साध्य हैं, तर्क-सिद्ध नहीं।

जो सृष्टि आपको दुःख देती हुई प्रतीत होती है, वह सृष्टि न तो आस्तिकतावादी की दृष्टि में है, न अध्यात्मवादी की दृष्टि में, और सच बात तो यह है कि वह भौतिकवादी की दृष्टि में भी नहीं है। दुःख देने वाली सृष्टि तो व्यक्ति ने अपने आप में से ही उत्पन्न की है जाने हुए असत् का संग करके। भौतिकवाद की दृष्टि से सृष्टि व्यक्ति का विकसित-व्यापक रूप है और आस्तिकवाद की दृष्टि से सृष्टि अनन्त की अनुपम लीला है। अथवा यों कहो कि भौतिकवादी साधक की दृष्टि में सृष्टि कर्त्तव्य का क्षेत्र है, अर्थात् अपने अधिकार का त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा करने पर भौतिकवादी में शान्त रस की अभिव्यक्ति होती है; क्योंकि अपने अधिकार का

त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा साधक को राग-रहित करने में हेतु है। राग-रहित होते ही दु:ख-निवृत्ति और शान्त-रस स्वत: सिद्ध हैं। इस दृष्टि से भौतिकवाद शान्त-रस है। अध्यात्मवादी साधक को अनेकता से अतीत जो निर्विशेष स्वयं-प्रकाश तत्त्व है, वह सृष्टि के स्वरूप में भासित है। अत: अनेकता को एकता में विलीन कर अध्यात्मवाद में अखण्ड रस है। आस्तिकवादी साधक सृष्टि के स्वरूप में अपने प्रेमास्पद की अनुपम लीला का दर्शन कर, सब प्रकार से उन्हीं का लाड़ लड़ाते हुए उन्हीं की प्रीति हो जाता है। प्रीति स्वरूप से अगाध-अनन्त रस की प्रतीक है। इस दृष्टि से जो अपनी बनाई हुई सृष्टि नहीं है, वह रस रूप ही है।

शान्त रस भी अजर-अमर है, अखण्ड रस भी अजर-अमर है, अनन्त रस भी अजर-अमर है। अब हम और आप साधक होने के नाते, जीवन होकर नहीं, महाराज! शरीर होकर नहीं, ब्रह्म होकर नहीं, साधक होने के नाते, जब अपनी आवश्यकता को देखते हैं; तब दिखाई देता है कि रस के बिना तो नहीं रह सकते। अब यह दूसरी बात है कि इस समय आपको भूख ऐसी मालूम होती हो कि दु:ख-निवृत्ति का जो रस है, वह हमें सन्तुष्ट कर सकता है। कोई चिन्ता की बात नहीं। उसे प्राप्त होने दो। जिस समय दु:ख-निवृत्ति का रस प्राप्त हो जायेगा, सच मानिए, आप सिटपिटा जाएँगे, अधीर हो जाएँगें, व्याकुल हो जाएँगें स्वाधीनता के लिए। जिस समय आपको स्वाधीनता का रस प्राप्त हो जाएगा, आप विकल हो जाएँगे प्रेम के रस के लिए। इसका अर्थ यह नहीं कि प्रेम के प्रादुर्भाव में स्वाधीनता का नाश हो जाता है, सो नहीं हो जाता। स्वाधीनता के प्रादुर्भाव में शान्त रस का नाश हो जाता हो, सो नहीं हो जाता। शान्त रस, स्वाधीनता का रस, प्रेम का रस ये-तीनों ही रस एक होकर भी तीन हैं, तीन होकर भी एक हैं। आप देखेंगे, जिस समय प्रेमी-प्रेमास्पद के मिलन से संयुक्त होता है, क्या पहले पूर्ण शान्ति नहीं है? क्या दूसरा क्षण, "हे प्यारे! तुम चले जाओगे" -व्याकुलता नहीं दे रहा है? क्या मिलन में वियोग नहीं है? इस दृष्टि से यह अपनी भूख की बात है। अगर आपको दु:ख-निवृत्ति संतोष देती है, तो इस बात की चिन्ता न करो कि हाय-हाय रे! हमारा रस तो बहुत घटिया है। और इस बात का अभिमान भी न करो कि सब बेवकूफ हैं और हम सबसे ज्यादा जानते हैं।

जीवन में दीनता और अभिमान के लिए स्थान नहीं है। जीवन में असफलता के लिए स्थान नहीं है। जीवन में निराशा के लिए स्थान नहीं है। नित-नव आशा, नित-नव उत्कंठा, नित-नव लालसा, नित-नव प्रियता, नित-नव जीवन ही 'जीवन' है और वह आपका जीवन है। तो, जिस विश्राम

की हम चर्चा कर रहे हैं, वह विश्राम योग का आनन्द है। जिस अध्यात्म की हम चर्चा कर रहे हैं, जिस निजानन्द की हम चर्चा कर रहे हैं, वह 'निजानन्द' उस विश्राम में एक विभूति है। आप देखेंगे कि कर्म के साथ यदि योग नहीं, तो क्या कर्म है वह? ज्ञान के साथ यदि योग नहीं? तो क्या ज्ञान है वह? भक्ति के साथ यदि योग नहीं, तो क्या भक्ति है वह? योग, भूमि है और भैय्या, उस भूमि पर जो कुछ है, अजर-अमर जो वृक्ष है, उसे आप ज्ञान कह दो और उस वृक्ष में एक ऐसा फल है, जिसमें छिलका नहीं, गुठली नहीं, गूदा नहीं, केवल रस है, वह 'प्रेम' है। भूमि से वृक्ष का विभाजन नहीं हो सकता। इसी बात को इस रूप में भी कह सकते हैं कि जिसे लोग कर्त्तव्यपरायणता कहते हैं, वह भूमि है; जिसे लोग योग कहते हैं, वह वृक्ष है; जिसे लोग फल कहते हैं, वह तत्त्वज्ञान है या जिसे ज्ञान कहते हैं वह फल है और जिसे लोग रस कहते हैं वह प्रेम है।

कर्त्तव्यपरायणता का सुन्दर रूप क्या है? हमें अपने लिए कुछ भी, कभी-भी, किसी भी परिस्थिति में करना नहीं है। जिसे अपने लिए कुछ नहीं करना है, उसके द्वारा होने वाली प्रत्येक प्रवृत्ति धर्म है, कर्त्तव्य है, कर्मयोग है; क्योंकि अपने लिए नहीं करना है। तो, जब हमें अपने लिए कुछ करना है, तब क्या होगा? दुःखी पर जब दृष्टि पड़ेगी, तब सोचे बिना, सज्जनता का अभिमान लाए बिना सेवा होगी। आजकल हम जानते हैं; भलाई लोग कैसे करते हैं? पहले सज्जनता का अभिमान लाते हैं कि हमारी बदनामी हो जाएगी। माफ कीजिए साहब, इस बदनामी से बचने के लिए कुछ मत कीजिए। आपको पीड़ा नहीं होती भूखे को देखकर, केवल कीर्ति के लिए बढ़िया जलपान कराते हैं। यह अपने लिए हो गया। जब आपका हृदय अधीर हो जाए किसी भूखे का देखकर और आपकी भूख मिट जाए और जिसे आप अपना करके भोजन मानते थे, वह आपको उसका दिखाई दे जाये, तब कर्त्तव्यपरायणता सिद्ध होगी। अपनी करके कोई वस्तु देने के समान कोई पाप मुझे नहीं मालूम होता। यह सेवा नहीं, यह भोग है। वह भोग से ऊपर नहीं उठने देता।

सेवा कब होगी महाराज? कर्त्तव्य कब आरम्भ होगा? जब आपके पास आपका करके कुछ न रहे। अपनी वाणी से दिया हुआ व्याख्यान भोग है, और श्रोता की वाणी से दिया गया व्याख्यान धर्म है। वाणी से अपना कोई सम्बन्ध नहीं है, यह अध्यात्म है। वाणी प्रभु की है, यह पूजा है। इसलिए भाई, अपने पास अपना करके कुछ नहीं है। अपने को अपने लिए कुछ करना नहीं है। यह बात जब तक स्वीकार न करेंगे, कर्त्तव्य 'विश्राम' में विलीन नहीं होगा

और आप विचार करें, बहुत गम्भीरता से विचार करें। बुद्धि के बल पर क्या मन में असंग हो सकते हैं? सरकार! बुद्धि से असंग हो सकते हैं? नहीं हो सकते। क्या असंगता में बुद्धि सहायक हो सकती है? नहीं हो सकती। जिस समय आपका विश्राम के साम्राज्य में प्रवेश होता है- पहला कदम, उसी समय आप कारण शरीर से असंग से होते हैं। स्थूल और सूक्ष्म को जाने दीजिए। और कारण शरीर से असंग होने में जो समता है, वह सबसे पहली अखण्ड समाधि है। बृद्धि की समता वाली जो समाधि है, जो मन की निर्विकल्पता से प्राप्त होती है, वह समाधि की छाया-मात्र है, समाधि नहीं। जैसे, किसी मजिस्ट्रेट के सामने कोई मिसिल नहीं रही, उसने कहा, 'कोर्ट बंद कर दो।' लेकिन उसे कल आना है कि नहीं? यदि कल आना है, तब वह कोर्ट बंद हो गया क्या? केवल थोड़ी देर के लिए। इसी तरह निर्विकल्पता के आधार पर जो समता है, वह विचारकों की समता है। और अपने को खोकर जो समता है, वह प्रेमियों की समता है। और अपने को रद्द करके नहीं, खोकर।

इस दृष्टि से विश्राम में समस्त विकास है, यह निर्विवाद सत्य है। वह हम सबका अपना है, हम उससे दूर नहीं हुए हैं, विमुख हुए हैं, उसकी विस्मृति हुई है। और जो स्मृति है वह प्रियता, बोध और प्राप्ति तीनों अर्थों को सिद्ध करती है, तब तो है वह स्मृति। नहीं तो भाई, आसक्ति है। स्मृति यदि बोध में हेतु नहीं है, स्मृति यदि प्राप्ति में हेतु नहीं है, स्मृति यदि प्रियता में हेतु नहीं है तो वह स्मृति नहीं है। वह स्मृति की नहीं जाती, अपने आप जगती है, विश्राम के साम्राज्य में। इस दृष्टि से विश्राम हम सबका जीवन है, इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। विश्राम समस्त साधनों की भूमि है और समस्त साधनों का फल है, इसमें भी कोई संदेह की बात नहीं है। अतः हम सबको यह निर्णय करना होगा कि हमारी प्रवृत्ति क्या अपने लिए है? कदापि नहीं। अपने लिए नहीं है। तो क्या निवृत्ति अपने लिए है? कदापि नहीं। निवृत्ति भी अपने लिए नहीं है। निवृत्ति प्रियतम की सेज है और प्रवृत्ति प्रियतम की भोग-सामग्री है। इस दृष्टि से अपने लिए न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति है। यही निदिध्यासन का असली रूप है।

।।हरि ॐ।।

25 दिसम्बर, 1959, सायंकाल

प्रवचन

6

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

चित्त बिना आधार के शान्त हो जाये और दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर हो जाये, यह बात सभी साधकों को प्यारी लगती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु इसके प्राप्त करने के जो उपाय हैं, उनसे साधक भयभीत होता है। आप स्वयं विचार करें, कोई भी किया हुआ कर्म तथा चिन्तन क्या अखण्ड हो सकता है? क्या उसको अपना आश्रय बनाया जा सकता है? जिसको अपना आश्रय नहीं बनाया जा सकता, क्या उससे असहयोग (समर्थन, विरोध अथवा तादात्म्य नहीं) अनिवार्य नहीं है? कोई भी कर्त्तव्य-कर्म कहते ही उसको हैं कि जिसका करना अनिवार्य है। तो, कर्म का जब अंत होता है, तब कर्ता किसी की प्रीति न होकर, उस किए हुए के परिणाम मे उलझ जाता है, अथवा किए हुए के अभिमान का रस लेता है। ये दो बातें हैं कि हम जो कर चुके हैं, आज उसका अस्तित्व नहीं है सामने, फिर भी रस लेते हैं।

मुझे इसका पता तब चला, जब कुछ साधुओं को यह कहते सुना कि हम यहाँ गये थे, वहाँ गये थे; कहते थे कि कई बार गंगोत्तरी गए थे। इस बात का रस कि हम गंगोत्तरी गए थे, नहीं छोड़ा, पकड़ लिया। इसने हमें परिच्छिन्नता से मुक्त नहीं होने दिया। अथवा जो कर्त्तव्य-कर्म किया भाई बनकर भाई के साथ, अथवा मित्र बनकर मित्र के साथ, व्यक्ति होकर समाज के साथ, थोड़ा क्षमा करें, और गहराई से विचार करें, जीव होकर ईश्वर के साथ; उसके करने के अभिमान का सुख भोगा। जैसे, कोई कहे, "हमने प्रभु की शरणागति स्वीकार कर ली"। अरे भैया, तुमने स्वीकार की, तो उससे अहम् को ही पोषित क्यों करते हो? शरणागति तो अहम् को गलाने के लिए है। किन्तु साधक साधनरूप स्वीकृति के आधार पर अपने अहम् को ही जीवित रखना चाहता है और यह आशा करता है कि प्रभु कहें कि तुम हमारे शरणागत हो, समाज कहे, "यह बड़े ही शरणागत भक्त हैं"।

यह है हमारी आस्तिकता की दशा। जो कर्त्तव्य-कर्म के नाम से करते हैं, न उसका अभिमान छोड़ना चाहते हैं, न उसके फल से विरत होना चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि कर्त्तव्य भी निकल जाता है, फल भी निकल जाता है और कर्त्ता अनाथ रह जाता है। उस व्यथा से बचने के लिए यह बात

निवेदन की गई कि भाई देखो, अकर्त्तव्य के त्याग में तुम्हारा पुरुषार्थ है। कर्त्तव्य-पालन तो स्वतः होता है। उसका अभिमान करने से तो कर्त्तव्य अकर्त्तव्य के रूप में बदल जाता है। कर्त्तव्य-पालन की जो सामग्री है वह व्यक्तिगत नहीं है, मिली है। मिले हुए के दुरुपयोग के त्याग में ही साधक का प्रयास है। किसी की दी हुई वस्तु उसे वापस दें और उस पर अहसान लादें कि हमने तुमको अमुक वस्तु दी, क्या यह ईमानदारी है? कर्त्तव्य-पालन की सामग्री व्यक्तिगत नहीं है। जिसके प्रति कर्त्तव्य किया जाता है उसकी धरोहर है। और जिन व्यक्तियों के प्रति कर्त्तव्य किया जाता है, वे भी सर्वांश में किसी एक के ही नहीं हैं।

आप विचार करें, तो भाई! जिनके साथ कर्त्तव्य का प्रश्न है वे केवल तुम्हारे ही हों, ऐसा अगर तुम मानते हो, तो अपने को धोखा देते हो। जो तुम्हारी पत्नी है वह किसी की बहन भी है, वह किसी की माँ भी है, वह किसी की पुत्री भी है। न जाने उसका सम्बन्ध कितने स्थानों पर है। कोई भी विचारक, कोई भी समाज-विज्ञानी इस बात को सिद्ध कर ही नहीं सकता कि कोई भी वस्तु और व्यक्ति किसी एक का ही है। तो भाई पंचायती वस्तु पर पूरा अधिकार जमाना, क्या ईमानदारी है? तो भाई, तुम पति होकर पत्नी को ईमानदारी से प्यार दो, गुणों के बदले में नहीं। गुणों के बदले में, सौन्दर्य के बदले में वेश्या भी प्यार पाती है; कामी से, पति से नहीं। यदि तुम पति हो, तो इस नाते प्यार दो कि वह तुम्हारी पत्नी है, चाहे रूपवती हो अथवा कुरूपा हो, सदाचार की प्रतीक हो अथवा दुराचार का केन्द्र हो; अगर नहीं दे सकते हो, तो सदैव के लिए अपने को पति मानने से अलग कर लो। यह है साथियों से सम्बन्धविच्छेद, अर्थात् उनकी ममता और अपनी अहंता का त्याग। आप सच मानिए कि पत्नी-प्रेम का रस उसी को आएगा जिसने कर्कशा और कुरूपा को प्यार दिया है और वही अहंता एवं ममता से रहित होगा। रूपवती, सेवा की प्रतीक, भावमयी अगर पत्नी है, तो जनाब! पत्नी-प्रेम का रस नहीं आएगा, पत्नी के सुख का भोग होगा। पतिपन का अभिमान अहंता और ममता को पोषित करेगा। तो हम बिना साथी के रहें, इसका अर्थ यह है कि कर्त्तव्यनिष्ठ रहें, पर किसी से सुख की आशा न करें। प्यारे प्रभु ने, प्रकृति के विधान ने, समाज के विधान ने जो अभिनय दिया है, जो मान्यता दी है, उसमें आप ही बताओ, सुख की आशा किस मान्यता के अर्थ में है? प्रत्येक मान्यता कर्त्तव्य का प्रतीक है। क्या कहीं किसी कर्त्तव्य में यह लिखा है कि पति को पत्नी से सुख लेना चाहिए? कहीं नहीं देखा होगा। न यह देखा होगा कि पत्नी को पति से सुख लेना चाहिए। जहाँ लिखा होगा वहाँ यही लिखा होगा कि

पत्नी वह, जो पति को आदर दे, सेवा करे और पति वह, जो पत्नी को आदर दे, प्यार दे और सेवा करे। यही नियम प्रत्येक सम्बन्ध के प्रति है। आप सारा साहित्य पढ़ डालिए। कहीं यह नहीं लिखा है साहित्य में कि आदर्श प्राणी वह है, जो सुख की आशा करे। जीवन--साहित्य की बात कहता हूँ। आपकी स्वीकृति का अर्थ यह नहीं कि आप पति बने हैं, तो आपको रूपवती स्त्री मिलनी ही चाहिए। कहीं नहीं लिखा है कि आप पत्नी बनी हैं, तो आपको बहुत-सा धन कमाने वाला रूपवान, समर्थ पति मिलना ही चाहिए। आप पिता बनें हैं तो आपको राम जैसा पुत्र मिलना ही चाहिए। अरे, कंस भी तो किसी का बेटा है। अनुकूल साथियों की कामना हो सकती है, विधान नहीं, तो भैया, कर्त्तव्य के क्षेत्र में ममता की, स्वार्थभाव की, अपने सुख के प्रलोभन की गंध भी नहीं है और आप अपने सुख के प्रलोभन को लेकर कर्त्तव्य के गीत गाते हैं। तो मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि जिन व्यक्तियों की ममता छोड़ने से आपको भय होता है, उन व्यक्तियों को एक बार तो अपना लेते प्यारपूर्वक। फिर देखिए ममता रहती है कि जाती है। यह ममता आपके ऊपर इसलिए लदी हुई है, कि आपने देना नहीं सीखा है और जब तक देना नहीं सीखा है तब तक ममता को आप नहीं मिटा सकते। दूसरी बात यह है, आप कहते हैं कि बिना साथी, बिना सामान के कैसे रहेंगे? आप विचार कीजिए कि गहरी नींद में कौन-सा साथी, और सामान आपके साथ है? क्या उस समय आपका अस्तित्व नहीं रहता? सुषुप्ति, समाधि और असंगता में भी तो जीवन है, किन्तु सामान और साथी की अपेक्षा नहीं। कर्त्तव्य के क्षेत्र में यदि प्रवृत्ति रस-रूप है, तो क्या निवृत्ति से प्राप्त समता-स्वाधीनता में रस नहीं है? प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों ही साधन के क्षेत्र हैं, और कुछ नहीं।

वह प्रवृत्ति नहीं है, जो अधिकार-लालसा में हमें आबद्ध किये हुए है, प्रवृत्ति वही है जो दु:खियों को देख करुणा और सुखियों को देख प्रसन्नता प्रदान करती है। निवृत्ति वह नहीं है सरकार! कि आप हिमालय की कन्दरा में घुसकर बैठे हैं, प्राणों को दबाएँ हैं। जब दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर होती है, जब चित्त बिना आधार के शान्त होता है, तब प्राण भी बिना निरोध के सम होते हैं। तो बिना निरोध के प्राण का सम होना, बिना दृश्य के स्थिर दृष्टि, बिना आधार के चित्त की शान्ति ही निवृत्ति है और नि:संदेह वह निवृत्ति प्रीतम की सेज है। वह बिछानी होगी और फिर अपने अहम् को गलाकर प्रीति से अभिन्न होना होगा। तब प्रीतम का प्रादुर्भाव होगा और वह प्रीतम प्रेमी बनकर आएगा। तुम्हारी महिमा गायेगा, तुम्हें अपानाएगा और अगाध अनन्त नित-नव रस की धारा प्रवाहित हो जायेगी। इसीलिए भाई, आप प्रीति हैं निवृत्ति में, सेवा

हैं प्रवृत्ति में। और उस सेवा और प्रीति को सजग बनाने के लिए यह बात कही गई है कि भैया, यदि सत्पथ पर चलना है, मानवता को जाग्रत करना है, तो यह पहले तय कर लो कि हमारा सामान हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। यह है बे-सामान का अर्थ। हमारे साथी अपनी वस्तु हमसे लेते हैं और कहते हैं कि तुमने दी। सोचो तो भैया, लें आप अपनी वस्तु और मुझसे यह कहें कि आपने बड़ी सुदर बात बताई। तो जब हम यह जानते हैं कि व्याख्यान श्रोताओं की वस्तु है सब प्रकार से, वक्ता का उसमें कुछ नहीं है, फिर यदि वक्ता यह अभिमान करे कि हमने तो व्याख्यान दिया और श्रोता को ऋणी बनाया, तब इससे बढ़कर भी कोई बेईमानी हो सकती है? क्या वह सेवा है, जिससे सेव्य भार से दब जाये?

सेवा वह तत्त्व है, जिसका हलके से हलका बोझ भी सेव्य पर न जाये। तो क्या इस दृष्टि से आज हम अपने प्रियजनों के साथी हैं? क्या इस भावना से मिली हुई वस्तु का सद्व्यय करते हैं? नहीं करते हैं, तो आपको अधिकार नहीं है सामान रखने का और किसी को साथी कहने का। इसलिए भाई यह दुःखी का पथ है। हम सामान नहीं रखेंगे, यह त्याग है। यह दुःखी का साधन है। यह सुखी का साधन नहीं है। हम भाई, किसी को साथी नहीं मानेंगे। क्यों? प्यार देने की सामर्थ्य नहीं है, यों; सेवा करने की योग्यता नहीं है, यों; ममता छोड़ने की शक्ति नहीं है, यों। इसलिए बिना साथी के रहेंगे, बिना सामान के रहेंगे। क्यों? हम साथियों की सेवा नहीं कर सके, हम सामान का सद्व्यय नहीं कर सके। आप यह मत सोचिए कि मैं वास्तविक जीवन के दर्शन के लिए किसी परिस्थिति विशेष का महत्त्व मानता हूँ। मैं यह नहीं मानता हूँ कि हिमालय की कन्दरा में सत्य मिलेगा और पटना के बाजार में नहीं मिलेगा। मैं यह नहीं मानता हूँ कि किसी अप्राप्त योग्यता से सत्य मिलेगा और प्राप्त योग्यता से नहीं मिलेगा। मैं यह नहीं मानता हूँ कि वर्तमान में नहीं मिलेगा, भविष्य में मिलेगा। जो सदैव आपका है, आप सदैव जिसके हैं, वह वहीं मिलेगा, जहाँ आप हैं।

इसकी आप चिन्ता न करें। लेकिन मिलेगा कब? अच्छा भैया! आप ही बताओ, दो व्यक्तियों का मिलन, क्या तीसरे के सामने होता है? मिलन का अर्थ क्या है? दो का एक होना, और प्रेम का अर्थ है? एक का दो होना। अगर एक दो नहीं है, तो प्रेम नहीं है। अगर दो एक नहीं हैं तो ज्ञान नहीं है। अरे, बिना जाने मिलते हो क्या? ज्ञान क्या है? मिलन का पहला दरवाजा। इसलिए भाई, अगर आपको मिलना है, तो समान का जो आवरण है, साथियों का जो ममत्व है, मोह है, उसका त्याग करना होगा। लेकिन साथी का त्याग

स्वरूप से नहीं करना होगा, सामान को फेंकना नहीं होगा, दुरुपयोग नहीं करना होगा; परन्तु अपना नहीं मानना होगा। आश्रम में चोरी हो गई। एक भाई ने लिखा कि सात सौ के लगभग नुकसान हो गया। तो मैंने लिखा कि भाई देखो, अगर तुम्हें कोई असावधानी मालूम होती हो, तो उससे दु;खी होना आवश्यक है। लेकिन चोरी नहीं हुई है; जिसने दिया था, उसने बिना पूछे ले लिया। इससे परेशान क्यों हो? आप ताज्जुब करेंगे, ठीक लगभग साढ़े सात सौ रुपया थोड़े ही समय में आ गया। हमने खत लिखा कि देखो, बिना पूछे लिया, तो बिना माँगे दे भी दिया।

तो कहने का मेरा तात्पर्य यह है भैया, कि डरो मत। चिन्तन नहीं करेंगे, तो कैसे जियेंगे; ध्यान नहीं करेंगे, तो कैसे जियेंगे! इससे डरो मत। कर्त्तव्य कर्म स्वत: होगा, चिन्तन स्वत: होगा। किन्तु आप सोचो, जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके ध्यान में संतोष! विचार करो, जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके चिन्तन में संतोष! जिसकी प्रीति होकर रहना है, उसके कमरे की सफाई में संतोष! कर्त्तव्य क्या है? प्यारे के बिठाने के लिए कमरे की सफाई। चिन्तन क्या है? प्यारे की प्रतीक्षा। ध्यान क्या है? उस प्रतीक्षा की गाढ़ता। तो इनके आधार पर हम अपने सुख का यह प्रलोभन रखें कि प्यारे का स्मृति-जनित सुख भोगें! भाई, यह प्रीति में कलंक है। हमें कितनी ही व्यथा हो, परन्तु प्रियतम का रस है; इस दृष्टि से चिन्तन हमारी खुराक न बन जाय, कर्त्तव्य-कर्म हमारी खुराक न बन जाये, समाधि हमारी खुराक न बन जाये। स्वाधीनता हमारी खुराक न बन जाये। विश्राम हमारी खुराक न बन जाये। तब हम कहीं प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होंगे। आप जानते हैं, प्रेम-तत्त्व क्या है? आप जिसे अपना प्रेमास्पद कहते हैं, उसी का स्वभाव है। प्रेमी के पास प्रेम नहीं है। हमने बचपन में सुना था "इश्क अव्वल दर दिले माशूक पैदा मी शवद।" यानी प्रेम प्रेमास्पद में जगता है। इश्क माशूक में पैदा होता है। उन्होंने उदाहरण दिया है कि पहले जब दीपक बलता है, तब पतंगा जलता है। इसलिए भाई उसी अनन्त के प्रेम से अभिन्न होंगे। तो, जो अनन्त का स्वभाव है, वही प्रेमी का जीवन है। मानव-सेवा-संघ के साहित्य में उसको साधन-तत्त्व कहा है, प्रेमास्पद को साध्य कहा है और भिन्न-भिन्न प्रकार के जो साधन हैं, उनको साधन कहा है। जहाँ समस्त साधन एक हो जाते हैं, वहाँ स्वाधीनता का संतोष, विश्राम का रस दोनों गलकर प्रेम-तत्त्व से अभिन्न होते हैं।

इसलिए हमारे सामने यह प्रकाश रहना चाहिए कि संकल्प अपूर्ति का दु:ख जीवन नहीं है, संकल्प-पूर्ति का सुख जीवन नहीं है, निवृत्ति की शांति

जीवन नहीं है, असंगता की स्वाधीनता भी जीवन नहीं है। कहाँ जीवन है? परम-प्रेम की अभिव्यक्ति में। किन्तु एक बात है, असंगता की स्वाधीनता का नाश नहीं होगा, विश्राम का नाश नहीं होगा। हमारे प्यारे ने ये दो बातें हमारे लिए रखी हैं। वे सोचते हैं कि अगर हमारा दुलारा दु:ख-निवृत्ति में संतुष्ट है, तो मुझे हर्ष है। विश्राम में संतुष्ट है, योगानन्द में संतुष्ट है, तो प्रभु को हर्ष है। निजानन्द में संतुष्ट है, तो प्रभु को हर्ष है। जिस प्रभु ने योगानन्द दिया, जिस प्रभु ने निजानन्द दिया, उसके लिए आपने क्या किया? उस समय यह प्रश्न आता है कि निजानन्द रहे, पर उसे हम खुराक नहीं बनाएँगे, योगानन्द रहे, पर हम उसमें संतुष्ट नहीं रहेंगे। तब प्रभु अपने स्वभाव को, जो कि प्रेम है, प्रदान करते हैं और वही, मैं सोचता हूँ कि हम सबका वास्तविक जीवन है।

॥ हरि ॐ ॥

26 दिसम्बर, 1959 प्रातःकाल

प्रवचन

7

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तन व्यक्तिगत जीवन में सम्भवतः दिखाई देते हैं। यदि जीवन में किसी प्रकार का चिन्तन न होता, किसी से सम्बन्ध न होता, तो सम्भवतः यह प्रश्न ही नहीं होता कि स्मृति कैसे जाग्रत हो। यह स्मृति के जगाने का प्रश्न ही तब हुआ है, जबकि जीवन में अनेक चिन्तन होते हैं, न चाहने पर भी होते हैं। उनमें कभी हम सुख लेते हैं और कभी उनसे भयभीत होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हमारी सबकी जो माँग है, जो आवश्यकता है, उसकी स्मृति यदि जग जाती तो अनेक चिन्तन मिट जाते, अनेक सम्बन्ध टूट जाते, अनेक विश्वास गल जाते। आप विचार करके देखें कि जब स्मृति नहीं जगी है, तब क्या है? जब आप किसी भी कार्य से खाली होते हैं, तब किसी-न किसी प्रकार का चिन्तन होता है आपके चाहने पर भी, न चाहने पर भी। वह इसलिए होता है कि जो भोग चुके हैं, अथवा जो भोगना चाहते हैं, उसका प्रभाव वहाँ बैठ गया है, जहाँ स्मृति जगनी चाहिए थी। अब वह आपके न चाहने पर होता इसलिए है कि वह मिट जाये और स्मृति जग जाये। आप क्या करते हैं? बड़ा बुद्धिमान बनकर या तो उसका विरोध करते हैं, या उसका समर्थन करते हैं या उससे तादात्म्य जोड़ लेते हैं। किससे? उस चिन्तन से, जो आपके न चाहने पर भी आपके बिना किए होता है। जब आप देखेंगे कि चिन्तन किसका होता है तो किसी न किसी उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति अथवा देश-काल का दर्शन होता है। यह तो हम और आप नहीं कह सकते कि जीवन में चिन्तन नहीं है। चिन्तन तो है, पर किसका है? जो पहले था, जो अब नहीं है, आगे होगा। देखते जाइए जीवन में।

शरणानन्द-फिलोसफी में कोई ऐसी बात नहीं कही जाती, जो आपकी बात नहीं है। जो चिन्तन आपके न चाहने पर होता है, वह क्या है? या तो वह है जो पहले था, अब नहीं है; या वह है जो अब नहीं है आगे होगा। इसमें किसी भाई-बहन को संदेह है क्या? संदेह नहीं है। तो भाई, "नहीं" का चिन्तन है। तो "नहीं" के चिन्तन से आप बचना चाहते हैं या उसको रखना चाहते हैं? पहले यह सोचिए। अगर आप उससे बचना चाहते हैं, तो "है" में आस्था करो। 'नहीं' के चिन्तन से बचने का उपाय क्या होगा? 'है' में आस्था।

अब "है' में आस्था करने से क्या होगा? आस्था जो होती है श्रद्धा को जाग्रत करती है। जहाँ आस्था होगी, वहाँ श्रद्धा हो जाएगी। और, श्रद्धा जो है; यह विश्वास को प्रदान करती है और विश्वास जो है, यह आत्मीयता प्रदान करता है। तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास और आत्मीयता, उसके पश्चात् कुछ भी करने का प्रश्न नहीं रह जाता है। मेरा तो यह अनुभव है, वह कह दूँ, तो कोई आपत्ति की बात नहीं है। यह अनुभव है कि जिसको आत्मीयता प्राप्त है, या जिसने आत्मीयता स्वीकार की है, उसको भी कुछ करना शेष है, ऐसा मैं नहीं मानता। तो अब देखना यह है कि आपके जीवन में किसके प्रति आत्मीयता है? 'है' के प्रति अथवा 'नहीं' के प्रति। यदि "नहीं' के प्रति ममता है, तो वह अनेक विकारों का रूप धारण करेगी। ममता और आत्मीयता में अन्तर क्या है? ममता अपने सुख के लिए होती है और अनेक से होती है, एक से नहीं होती। ममता का उद्गम देहाभिमान है और वह उत्पन्न हुई वस्तु, व्यक्ति आदि से होती है। ममता राग को जन्म देती है, लोभ, मोह आदि विकारों को उत्पन्न करती है, संयोग की दासता और वियोग के भय में आबद्ध करती है। किन्तु आत्मीयता एकमात्र आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक प्यारे प्रभु में होती है और अगाध अनन्त नित–नव प्रियता को जाग्रत करती है।

तो भाई, सोचने की बात सिर्फ इतनी है कि आपके जीवन में ममता–जनित चिन्तन है, अथवा आत्मीयता से जाग्रत प्रियता है। चिन्तन उसका होता है, जो हमारे बिना रह सकता है, जो पहले था और अब नहीं है, जो अब नहीं है, आगे कभी होगा। आप विचार करें। गई हुई वस्तुओं का चिन्तन होता है, गई हुई परिस्थिति का चिन्तन होता है, अथवा अप्राप्त वस्तु का चिन्तन होता है अथवा अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन होता है। चिन्तन जो हो रहा है जीवन में वह "नहीं" का हो रहा है, अर्थात् जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। उपयोग प्राप्त वस्तु, व्यक्ति आदि का कर रहे हैं, आप उपयोग जो कर रहे हैं, चाहे वस्तु–रूप से करें, चाहे व्यक्ति–रूप से करें, वह प्राप्त का कर रहे हैं। लेकिन चिन्तन अप्राप्त का हो रहा है। अब सोचिए तो सही, जीवन में क्रियात्मक रूप से सम्बन्ध प्राप्त वस्तु–व्यक्ति आदि से है, अथवा अप्राप्त से? क्या आप अप्राप्त वस्तु–व्यक्ति का चिन्तन करेंगे, अथवा उनका चिन्तन न करके वस्तुओं का सद्व्यय और व्यक्तियों की सेवा करेंगे? प्राप्त वस्तुओं का सद्व्यय और प्राप्त व्यक्तियों की सेवा तो सार्थक चिन्तन की जागृति में बाधक नही है और व्यर्थ–चिन्तन का जन्मदाता भी नहीं है। व्यर्थ–चिन्तन का मूल तो वस्तुओं तथा व्यक्तियों के द्वारा सुख–भोग करना है। जब तक सुख भोग की रुचि रहेगी, तब तक आपके न चाहने पर भी

व्यर्थ-चिन्तन होगा और व्यर्थ-चिन्तन के होते हुए बलपूर्वक किया हुआ साथ्रक-चिन्तन वर्तमान में सिद्धिदायक नहीं है। इस कारण व्यर्थ-चिन्तन के नाश होने पर ही वास्तव में सार्थक-चिन्तन की जागृति होती है, जो आत्मीयता से ही साध्य है, किसी अभ्यास से नहीं।

यदि आप कहें कि निकटवर्ती प्रियजनों का चिन्तन नहीं करेंगे तो उन्हें सुख न मिलेगा। गम्भीरता से विचार करें-किसी को प्यास लगी है, तो उसे सुख पानी पिलाने से मिलेगा, कि चिन्तन से? प्यारे भाई! संसार को सेवा अभीष्ट है, चिन्तन नहीं। और आप भी सरकार, संसार से सेवा की ही आशा रखते हैं, उसके द्वारा अपने संकल्पों को पूरा करना चाहते हैं। इस दृष्टि से आपके और संसार के बीच सेवा का ही आदान-प्रदान है, चिन्तन का नहीं। यदि कोई यह कहे कि चिन्तन के बिना सेवा में प्रवृत्ति नहीं होती। तो इसका अर्थ यह है कि उसका कोई साध्य नहीं है, जिसके नाते सेवा करे।

देखो भाई! सीधी-सादी बात यह है कि जिस चिन्तन का आप नाश करना चाहते हैं, जो चिन्तन आपके न चाहने पर भी होता है, आप विवेकपूर्ण उस चिन्तन से असहयोग करें, उससे भयभीत न हों, उसका समर्थन या विरोध न करें, उससे तादात्म्य न रखें। तो वह अपने आप नाश हो जायेगा, जिसके होते ही जिसमें आत्मीयता है, उनकी अखण्ड स्मृति जाग्रत होगी।

विचार करने की बात यह है कि जिन वस्तुओं का चिन्तन ही उससे विमुख कर देता है, जिसमें अपनी आत्मीयता है तथा जिसकी अगाधप्रियता अभीष्ट है, तो उन वस्तुओं की प्राप्ति न जाने क्या कर देगी! हमने तो एक बार विनोद में किसी से कहा कि भैया! जब तुम्हारी याद ने ही ईश्वर से दूर कर दिया, तो तुम्हारा मिलना न जाने क्या कर दे! आप विचार करो। चिन्तन किसका हो रहा है? जो आज प्राप्त नहीं है। और उस चिन्तन ने उससे विमुख किया है, जो 'है' अर्थात् नित्य प्राप्त है। तो, "नहीं" के चिन्तन को आप रखना चाहते हैं? यदि रखना चाहते हैं, तो स्मृति नहीं जगेगी। और यदि नहीं रखना चाहते हैं तो स्मृति अवश्य जगेगी। आप कहें कि हमने यह निर्णय तो कर लिया कि हम "नहीं" का चिन्तन नहीं रखना चाहते हैं, लेकिन क्या करें, अपने-आप होता है। बहुत ठीक, अगर अपने आप आता है, तो उस समय आप सोचिए कि जिसकी याद आ रही है, उससे हमने कितना सुख लिया है! अगर सुख लिया है, तो भाई दु:ख भोगना पड़ेगा। और यदि नहीं लिया है, तो भाई, उसका देना कितना बाकी है! अगर उसका देना बाकी है, तो चिन्तन आएगा। इसलिए भाई, यदि किसी व्यक्ति का चिन्तन आपको आता है, तो उसको कुछ दे दो।

हमारे पास एक सज्जन आए। बोले, हमारी स्त्री का देहान्त हो गया है, लड़का रह गया है और जब हम भजन करने बैठते हैं, तो उसकी याद आती है। हमने कहा लड़का कहाँ रहता है? बोले, वह अपनी नानी के पास रहता है। तो हमने कहा, जिस दिन याद आया करे, उस दिन पचास रुपये का मनिआर्डर भेज दिया करो लड़के के लिए। बोले, इससे क्या होगा? हमने कहा, याद आना बंद हो जायेगा। बोले, कैसे? हमने कहा, करके देखो। लड़का अपना मानते हो, सेवा सास से कराते हो। अरे, तुम क्या, तुम्हारे बाप भी उसके चिन्तन को नहीं छोड़ सकते। तो भाई, आपको किसका चिन्तन आता है? पहले उसको देखिए। माया-माया, मिथ्या-मिथ्या, कहकर घबड़ा करके छुट्टी मत पा जाइए। मालूम है, आजकल का ईश्वरवादी जितना ईश्वर की बेइज्जती करता है, मैं सच कहता हूँ, नास्तिक नही करता। लेकिन आज का ईश्वरवादी इतनी तारीफ करेगा, इतनी महिमा गाएगा ईश्वर की, जिससे लोग उसमें फँस जायें, अर्थात् ईश्वरवादी हो जायें। यह कोई स्मृति जगाने का तरीका है?

तो, भैया, अगर सचमुच स्मृति जगाना चाहते हैं, तो एक बात का निर्णय कर लो कि "नहीं" का चिन्तन नहीं करेंगे; और प्रभु चाहे जैसे हों, उन्हें अपना मानेंगे, तो स्मृति अवश्य जाग्रत होगी। प्रभु की महिमा सुनकर जो ईश्वरवादी होते हैं, वे कामी हैं, प्रेमी नहीं। सुन्दरता पर कौन आकर्षित होता है? जिसे अपना सुख अभीष्ट है, वह भोगी है, प्रेमी नहीं। प्रेमियों में स्मृति जाग्रत होती है, भोगियों में नहीं। अगर आपको निकम्मा ईश्वर प्यारा लगता है, वह निष्ठुर भी हो, निकम्मा भी हो, हमें न भी चाहता हो, तब भी अगर आप उसे अपना कह सकें, तो स्मृति जागेगी। आज मालूम है, क्या है? एक सज्जन बीमार हुए। उनकी स्त्री ने कहीं सुन लिया कि भगवान् सबकी रक्षा करते हैं। बस, खूब पूजा हुई, पति अच्छे हो गये। दोबारा बीमार हुए, खूब पूजा हुई, मर गए। ठाकुर जी को उठाकर फेंक दिया। अगर हम और आप विचार करने बैठें, तो पहले यह सोचें कि क्या वस्तु के चिन्तन से वस्तु मिलेगी? आप लोगों को रोग लगा है, प्रभु की महिमा सुनाने और स्वयं अखण्ड स्मृति से वंचित रहने का।

भैया, विचार तो करो, प्रभु की महिमा अपनी आस्था दृढ़ करने के लिए थी, अथवा प्रचार के लिए? असमर्थता की व्यथा में आस्था दृढ़ होती है, महिमा सुनने-कहने से नहीं। परन्तु आज आस्तिकतावाद के प्रचारक को गुरु बनने का जितना शौक है, क्या उतना स्वयं भक्त होने का है? यदि है, तो उसके जीवन से स्वयं आस्तिकता विभु हो जाएगी। कितने उपदेष्टा गुरु अपने

शिष्यों के मन की चंचलता तथा विकार से दुःखी हैं? कभी एकान्त में उन लोगों के दुःख से दुःखी होकर व्याकुल हुए? अथवा जीवनभर उपदेश ही करते रहे। कितने नेता हैं, जो समाज की व्यथा से व्यथित हैं? अथवा अपने नेतृत्व के सुख से सुखी हैं। सच्चा नेता वही है, जिसका हृदय निरन्तर पर–पीड़ा से भरा रहे और सच्चा गुरु वही है, जिसके जीवन से साधकों को प्रकाश मिलता है। सिद्धान्तों की चर्चा करने मात्र से वास्तव में गुरु–पद नहीं मिल जाता। अगर हम और आप विचार करने बैठें, तो पहले यह सोचें कि क्या वस्तु के चिन्तन से वस्तु मिलेगी? व्यक्ति के चिन्तन से व्यक्ति मिलेगा? परिस्थिति के चिन्तन से परिस्थिति मिलेगी? अवस्था के चिन्तन से अवस्था मिलेगी? त्रिकाल में नहीं मिलेगी। वस्तु के सदुपयोग से वस्तु मिलती है। परिस्थिति के सदुपयोग से परिस्थिति मिलती है। चिन्तनमात्र से परिस्थिति नही मिलती, चिन्तन–मात्र से वस्तु नहीं मिलती, चिन्तन–मात्र से व्यक्ति नहीं मिलता। तो जिसकी प्राप्ति चिन्तन–साध्य है ही नहीं, उसका चिन्तन मत करो। आपके निर्णय के बाद यदि चिन्तन आता है, ता मत सोचो कि हम बहुत बुरे हैं, हमको व्यर्थ–चिन्तन होता है। यह मत सोचो। सोचो यह कि भुक्त–अभुक्त का प्रभाव जो बैठा हुआ था हमारे जीवन में, हमारे प्यारे ने कृपा करके अपनी अहैतुकी कृपा से उसको प्रकट किया है नाश करने के लिए और अपनी स्मृति जगाने के लिए। आप गम्भीरता से विचार करें।

आजकल की साधन–प्रणाली में मन की चंचलता की बात कही जाती है। भाई, मैं तो उसको मानता नहीं हूँ, यह पहले बता दूँ। यह मन की चंचलता का ज्ञान कब होता है आपको? जब आप स्थिर होना चाहते हैं। काम करने में मन की चंचलता का भास होता है क्या? नहीं होता। यानी जब स्थिरता का आरम्भ होता है, तब चंचलता का परिचय होता है श्रीमान्! तो, जिसे तुम चंचलता समझते हो, वहाँ स्थिरता की स्थापना हो रही है। और तुम कहते हो कि मन चंचल है। इसलिए भाई, किसी–न–किसी प्रकार का जो चिन्तन हो रहा है, वह चिन्तन यदि व्यर्थ है, तो वह निकल रहा है, हो नहीं रहा है, और यह निर्णय तुमको करना है कि व्यर्थ चिन्तन हम नहीं चाहते। क्यों? जिससे देश–काल की दूरी है, वह चिन्तन से मिलेगा नहीं। चिंतन से वही मिलेगा, जिससे देश और काल की दूरी नहीं है। भैया, जिससे देश–काल की दूरी नहीं है, वह कैसा है? उसके सम्बन्ध में यदि आप अपनी योग्यता लगाएँगे, तो क्या निर्णय कर पाएँगे? कदापि नहीं। वह कैसा है, इसे वह भी नहीं कह पाएगा, तो भला तुम कह पाओगे? यह दूसरी बात है कि तुम अपनी रुचि के अनुरूप अपने प्यारे को देखना चाहते हो। वह अलग बात। तो यह

मत सोचो कि वह कैसा है! केवल इतनी आस्था करो कि 'वह है और अपना है।' कहाँ है, कैसा है, क्या करता है, इन सब बातों पर प्रेमियों की दृष्टि नहीं जाती। चाहे जैसा है, चाहे जहाँ है, चाहे कुछ करे, अपना है। यह प्रेमियों का पाठ है।

अब यदि कोई कहे कि जिसे नहीं जानते, उसे क्यों मानें? तो भाई, मानने का प्रश्न है ही उसके सम्बन्ध में, जिसे नहीं जानते। व्यर्थ-चिन्तन किसी को पसन्द नहीं है। आप केवल इतनाभर स्वीकार कर लीजिए कि 'नहीं' का चिन्तन हमको अभीष्ट नहीं है, हमारे लिए रुचिकर नहीं है, हमारी यह माँग नहीं है। उसके बाद जो 'नहीं' का चिन्तन दिखाई देता है, वह मिटने के लिए उत्पन्न हुआ है। क्यों? आप प्राकृतिक नियम देख लीजिए। कोई ऐसी चीज बताइए, जो उत्पन्न हुई हो। और नाश अपने आप न हुई हो। ऐसा कोई उदाहरण भौतिक विज्ञान से भी सिद्ध नहीं होगा। इसलिए भाई, तुम जिसे नहीं चाहते हो और वह चिन्तन के रूप में प्रकट हुआ है, उसका अर्थ यह है कि वह नाश हो जाएगा। जो नाश हो ही जायेगा, उसका विरोध करने से क्या फायदा? जरा सोचिए जो नाश हो ही जायेगा, उससे तादात्म्य करने से कोई लाभ नहीं। तो व्यर्थ-चिन्तन से तादात्म्य न रहे, उसका समर्थन न हो, यह तो है सहज बात। उससे भी आगे कठिन बात है, महाराज! वह कौन-सी कठिन बात है? कि चिन्तन न होने का जो जीवन है, उस चिन्तन-रहित जीवन का मूल्य इतना मत बढ़ा देना कि उसमें कहीं टिक जाओ। तो व्यर्थ-चिन्तन अभीष्ट नहीं है और अचिन्त होना अपना लक्ष्य नहीं है। किन्तु अचिन्त होते ही स्वतः विश्राम, अर्थात् योगानन्द की अभिव्यक्ति होती है, किन्तु 'मैं योगी हूँ', इस रस से रहित हुए बिना निजानन्द, अर्थात् स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। परन्तु भाई, वास्तविक अगाध, अनन्त, नित-नव रस की प्राप्ति के लिए तो योग रहे, किन्तु उसका भोग न हो, स्वाधीनता रहे, किन्तु उसमें सन्तुष्टि न हो। तब वह स्मृति जगती है, जो वास्तव में प्रेमतत्त्व है, जिससे प्रेमास्पद को रस मिलता है। योगानन्द, निजानन्द भी अविनाशी तत्त्व हैं, किन्तु उनसे प्रेमियों की प्यास नहीं बुझेगी। जो साधक मुक्ति के रस में सन्तुष्ट है, दुःख-निवृत्ति में सन्तुष्ट है, शान्ति में सन्तुष्ट है, उसमें वह स्मृति जाग्रत नहीं होती, जो अनन्त को रस देती है, क्योंकि अपने रस में सन्तुष्ट होने में अहम् की गंध रहती है।

इसलिए भाई, जिसमें आपने आस्था की श्रवण-मात्र से, बिना ही जाने, उससे आत्मीयता ही विश्वासी साधक का अन्तिम प्रयास है। इसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं करना है। आत्मीयता सुरक्षित रखने के लिए अचाह-अप्रयत्न

होना अनिवार्य है। कोई भाई-बहन यह न समझें कि स्मृति केवल ईश्वरवादियों की ही बतौती है। स्मृति सभी को अभीष्ट है। अन्तर केवल इतना है कि वह स्मृति ही बोध, प्राप्ति और प्रियता के रूप में अभिव्यक्त होती है। जिज्ञासु बोधमात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं, प्रेमी नहीं। इतना ही विश्वासी और विचारक में भेद है।

उस पर भी यदि भाई-बहन की सुने हुए प्रेमास्पद में अविचल श्रद्धा, विश्वास एवं आत्मीयता नहीं होती, तो कोई बात नहीं। आस्था न करना कोई दोष नहीं, किन्तु 'हम आस्था नहीं करेंगे', इस प्रकार का जो आग्रह है वह भूल है। हमारे प्यारे तो, आप लोग जिसमें आस्था करेंगे, उसी के रूप में आपको प्राप्त होंगे। आप अपने में, जगत् में, किसी में आस्था कीजिए, पर इतना ध्यान रखिए कि जिसमें आस्था करें उसमें आत्मीयता भी हो, उससे कामना-पूर्ति की आशा न करें, तो अपने-आप आपमें वह आस्था और स्मृति जाग्रत हो जाएगी, जो किसी भी प्रेमी में होती है।

गम्भीरता से विचार करें, क्या किसी ने उसे, जिससे उसकी उत्पत्ति हुई है, इन्द्रिय-ज्ञान तथ बुद्धि-ज्ञान से जाना है? कदापि नहीं। प्रत्येक कार्य अपने कारण में विलीन हो सकता है, उसे विषय नहीं कर सकता। आप लोग जिससे उत्पन्न हुए हैं, उसे मानते हैं, जानते नहीं। जो सभी का प्रकाशक तथा आश्रय है, उसमें आस्था कर सकते हैं, उसे अपने मस्तिष्क की खुराक नहीं बना सकते।

एक बार एक बालक विद्यार्थी मेरे पास आया और कहने लगा-बताओ, तुम्हारा ईश्वर कहाँ है? उन दिनों मुझे भी ईश्वरवादी होने का नशा था और बालक को भी अपनी तर्क-शक्ति का नशा था। अनेक युक्तियों से बातचीत करते-करते अंत में मैंने उससे पूछा-बताओ, जब तुम कुछ नहीं करते हो, तब तुम्हारा मन, तुम्हारी बुद्धि कहाँ रहती है? इसका अनुभव गहरी नींद में नहीं, जाग्रत में करो। बालक बड़ा ईमानदार था। उसने कहा, 'मैं नहीं जानता हूँ कि मेरा मन, मेरी बुद्धि विश्राम-काल में कहाँ रहती है, पुनः उससे पूछा-कहीं रहती तो है? इस बात को तो मानते हो? उसने कहा-हाँ। मैंने कहा, 'वहीं मेरा ईश्वर है। तुम उसका ईश्वर नाम न देकर कोई और नाम रख लो, जो तुम्हें अभीष्ट हो।'

कोई भी उत्पत्ति बिना आश्रय के नहीं होती और सभी उत्पत्तियों का आश्रय वही हो सकता है जो अनुत्पन्न स्वतः सिद्ध हो, जो उत्पत्ति-विनाश रहित हो, वही ईश्वरवादियों का ईश्वर और तत्त्ववेत्ताओं का तत्त्व है। उस तत्त्व में दुःखों की निवृत्ति तथा चिरविश्राम है। प्रेमास्पद की मधुर स्मृति उनके

लिए और दु:ख-निवृत्ति, चिर-विश्राम तथा स्वाधीनता अपने लिए है। प्रेम-तत्त्व उन्हीं के लिए रस रूप है, जिन्हें प्रेमास्पद को रस देना अभीष्ट है। प्रेमास्पद ने सभी को सब कुछ दिया और अपने को छिपाया है। देखो भाई, उनके देने का ढंग कितना अलौकिक है! जिसे जो देते हैं, उसे वह अपना ही मालूम होता है। क्या, उनकी उदारता का यह दुरुपयोग किया जाये कि हम सुने हुए प्रभु में आस्था नहीं करेंगे? जाना हुआ तुम्हारे काम आया नहीं, सुने हुए में आस्था की नहीं और अकेले अपने में ही सन्तुष्ट रह पाते नहीं, तो ऐसी दशा में, जो दुर्गति होती है, क्या किसी से छिपी है? जगत् के काम आओ उससे मिली हुई वस्तुओं के द्वारा; और सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों से असंग होकर अपने ही में सन्तुष्ट हो जाओ। उस पर भी यदि कोई प्यास रहे, तो उस सुने हुए निष्ठुर में, जिसने अपने को छिपाया और सभी को अपनाया, अविचल आस्था करो।

यह भली-भाँति जान लो कि जो उत्पत्ति-विनाश तथा देश-काल की दूरी से रहित है, उसकी प्राप्ति किसी प्रकार के श्रम से साध्य नहीं है। जिन वस्तुओं की प्राप्ति कर्म-सापेक्ष है, विधान से है, वे चिन्तन से नहीं मिलतीं। अनेक कामनाएँ पूरी होने पर भी कुछ शेष रहती ही हैं। इन सब बातों पर विचार करने से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि व्यर्थ-चिन्तन का नाश अनिवार्य है, जिसके होते ही सार्थक-चिन्तन तथा अचिन्तता अपने आप आएगी, जिसके आते ही असंगता से प्राप्त स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश होगा। पर जिन प्रेमियों को यह प्यास है कि हम उनके काम आएँ, जो हमें जानते हैं, पर जिन्हें हम नहीं जानते, उन्हें 'उन्हीं' में आस्था करनी होगी और फिर-अपने-आप अनेक विश्वास एक विश्वास में, अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक चिन्तन एक चिन्तन में विलीन हो जाएँगे और स्वत: मधुर स्मृति जाग्रत होगी, जो बोध, प्राप्ति और प्रियता प्रदान करने में समर्थ है।

॥हरि ॐ॥

26 दिसम्बर, 1659, सायंकाल

प्रवचन

8

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

दर्शन अनेक, जीवन एक। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण आंशिक रूप से विभु होता है और किसी अंश में एकदेशीय होता है। कारण क्या है इसका? यह कि जबकि सम्पूर्ण सत्य से एकता होती है, तब दर्शन रहता है, दार्शनिक नहीं रहता। जब दार्शनिक नहीं रहता, तब का जो दर्शन है, वह कथन में नहीं आता। दार्शनिक के रहते हुए जो दर्शन है, वही कथन में आता है और उसका कुछ भाग ऐसा होता है, जो विभु होता है, सभी के लिए मान्य होता है, सभी के लिए हितकर होता है। और कुछ भाग उसका ऐसा होता है, जो उस दार्शनिक के लिए तो साधनरूप होता है, औरों के लिए श्रद्धारूप होता है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई और बहन को अपने-अपने दर्शन, अर्थात् अपने-अपने दृष्टिकोण का, अपनी-अपनी आस्था का अनुसरण करते हुए दूसरों के दर्शन का ईमानदारी से आदर करना चाहिए। क्यों? यदि हम ऐसा नहीं करेंगे, तो अनेक भेद होने पर प्रीति की एकता जीवन में नहीं आएगी। और प्रीति की एकता के आए बिना, मेरा ऐसा अपना विश्वास है, कि साधक का पूर्ण विकास सम्भव नहीं है।

कभी-कभी लोग मुझसे पूछते हैं कि प्रभु में प्रेम कैसे हो? तो मुझे ऐसा मालूम होता है कि तुम यदि पतित से प्रेम कर सको, तो प्रभु से प्रेम हो सकता है। आप विचार करें; जो पतित सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसे श्वाँस लेने देती है, आकाश जिसे अवकाश देता है। पृथ्वी जिसे आश्रय देती है, क्या आप उसे प्यार नहीं दे सकते? इसलिए भाई, जीवन में अनेक भेद होने पर भी प्रीति की एकता हो। वह कब होगी? वह तब होगी, जब हमारे जीवन में उससे असंगता हो, जिसने हमें पराधीन बनाया है। वह क्या है? इसे तो आप स्वयं जानने का प्रयास करें। हर भाई, हर बहन यह जान सकती है कि मेरी पराधीनता में हेतु कौन है। उससे असंग होना है। असंग होने का अर्थ घृणा नहीं है। असंग होने का अर्थ जिससे असंग होते हैं, उसको बुरा समझना नहीं है, उसका विरोध करना नहीं है। तो क्या है? कि भाई, जिसने हमें पराधीनता प्रदान की है, उससे हमारा उस रूप में,

किस रूप में? कि जिस रूप में हम पराधीन हो जाते हैं, सम्बन्ध नहीं रखेंगे। एक उदाहरण लीजिए-कि हम सब जहाँ बैठे हैं, उनमें से शायद कोई भी नहीं कह सकता कि यह स्थान हमारा है। भागवत बाबू से पूछो, तो कहेंगे कि सरकारी हैं। हम सबसे पूछो, तो कहेंगे कि भागवत बाबू का है। तो आप बताइए कि आप इससे असंग हो गये कि नहीं? तो क्या आपने इस बँगले की निन्दा की? क्या इसको बुरा समझा? क्या इससे घृणा की? न तो घृणा की, न निन्दा की और न बुरा समझा। आपने इस बात को जान लिया कि भाई, यह वस्तु हमारी नहीं है। और थोड़ा आगे बढ़ें, तो कहेंगे कि कुछ काल के बाद हमारे लिए नहीं है। विचारक कहेगा कि हमारी नहीं है, हमारे लिए नहीं है सर्वकाल में। बोले, क्यों? क्यों नहीं है, तो बोले, 'हम' का अर्थ क्या है? हमारी माँग। 'हम' का अर्थ अहम् नहीं है, आत्मा नहीं है, शरीर नहीं है! हम का अर्थ जो है, हमारी माँग है।

तो हमारी माँग क्या है? पराधीनता जीवन में न रहे, यह हमारी-आपकी माँग है। तो भाई, यह पराधीनता जीवन में न रहे यह हमारी आपकी माँग है। तो भाई यह पराधीनता जीवन में न रहे, यह जब हमारी माँग है, तब आप ही बताइये, अपना करके किस वस्तु को आप अपना कहेंगें? यह दूसरी बात है कि जैसे, हिन्दू नारी पति के नाते सास की सेवा करे और पति का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाये। उसी प्रकार मिली हुई वस्तु का सद्व्यय आप विश्व के नाते कीजिये, प्रभु के नाते कीजिए, आत्मा के नाते कीजिये, तो आपको विश्व-प्रेम, प्रभु-प्रेम और आत्म-रति मिलेगी। इसमें। कोई संदेह की बात नहीं है। लेकिन उसी का उपयोग आप, कृपानाथ! सुख के नाते कीजिये, तो क्या मिलेगा? आसक्ति मिलेगी, कि प्रेम? पराधीनता मिलेगी, कि स्वाधीनता? जड़ता मिलेगी, कि चेतना? अभाव मिलेगा, कि पूर्णता? तो हमको किससे असंग होना है? इस पर जब हम विचार करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि सुख के प्रलोभन से असंग होना है। किस सुख के प्रलोभन से, जिसको हम भोगते हैं। मैं आपसे पूछता हूँ कि संसार को सत्य मानकर आप सुख के भोगी बनेंगें कि योगी बनेंगे? आपको योगी होना है कि सुख का भोगी होना है? अगर योगी होना है तो सुख के भोग से असंग हो गए कि नहीं? विचार करो। तो संसार को सत्य मानने से असंगता आवश्यक नहीं होगी, यह बात सिद्ध नहीं होती, या संसार को मिथ्या मानने से असंगता आवश्यक नहीं होगी, यह बात भी सही नहीं मालूम होती। क्यों? मिथ्या का अर्थ क्या है? जो न हो, उससे आप असंग होंगे, कि संग करेंगे? जो नहीं है, उससे भी तो असंगता ही पुष्ट होगी।

इस दृष्टि से भाई, मिथ्या मानकर भी असंगता चाहिए, सत्य मानकर भी असंगता चाहिए। क्यों? इसलिए कि आज हमारी दशा क्या हो गई है? आस्तिक हैं; बोले क्यों? प्रभु को मानते हैं। ठीक, तो जिस प्रभु को आप मानते हैं, ईमानदारी से सोचिये, आप उससे कुछ चाहते हैं या नहीं? बोले चाहते हैं। तो प्रभु को मानते हैं कि अपनी चाह को मानते हैं? विचार करो। अगर अपनी चाह को मानते हैं, तो प्रभु को नहीं मानते और प्रभु को मानते हैं, तो चाह-रहित होना ही पड़ेगा। जब चाह-रहित होना अनिवार्य है, तब असंगता के बिना चाह-रहित कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते। अच्छा भाई, कोई कहे कि साहब, हमने तो अपने निजस्वरूप की सत्ता स्वीकार की। तो भैया! जिन-स्वरूप की सत्ता स्वीकार करके भी क्या आप कामनायुक्त रह सकते हैं, कामयुक्त रह सकते हैं? अगर कामयुक्त रह सकते हैं तो देहाभिमान की सत्ता स्वीकार की है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की सत्ता स्वीकार करके भी कामना-रहित होना ही पड़ेगा। कोई कहे कि भाई, न तो हमने परमात्मा की सत्ता स्वीकार की और न ही आत्मा की सत्ता स्वीकार की, हमने तो अपने जाने-बूझे जगत् की सत्ता स्वीकार की है। तो बड़ी सुन्दर बात। आपने जगत् की सत्ता स्वीकार की है, तो आप जगत् के काम आएँगे, कि जगत् से सुख की आशा करेंगे? अगर आपने जगत् से सुख की आशा की तो आपने अपने सुख की सत्ता स्वीकार की, कि जगत् की सत्ता? आप विचार करें। तो, दर्शन अनेक होने से, दृष्टिकोण अनेक होने से, न तो भैया, जीवन में कोई भेद रहता है, और न उन साधनों में कोई भेद रहता है, जो व्यापक साधन हैं। जगत् से सुख की आशा करने वाले ने अपने सुख की सत्ता स्वीकार की, जगत् की सत्ता अस्वीकार कर दी। अतः उसे भी अपने सुख की सत्ता से, जो स्वीकार की इुई है, असंग होना ही पड़ेगा। अध्यात्मवादी को भी उससे असंग होना पड़ेगा, आस्तिक को भी उससे असंग होना पड़ेगा। तो दार्शनिक भेद होने से जीवन में कोई भेद होता हो, ऐसा मेरा विश्वास नहीं है, ऐसी मेरी आस्था नहीं है और अनुभव भी नहीं है। इसलिये भाई संसार कैसा है? जैसा आपको मालूम हो। संसार कैसा है? जैसा आप मानते हैं। तो आप संसार को चाहे जैसा मानें, किन्तु आपको व्यक्तिगत सुख भोग से असंग होना ही पड़ेगा। अब व्यक्तिगत सुख भोग से असंग होने का उपाय क्या होगा? इस पर थोड़ा विचार करो। तो उपाय मुझको यह मालूम होता है कि सुख का प्रलोभन किसमें है, इसकी आप खोज करेंगे, तो आपको मालूम होगा कि उसमें है, जिसने किसी के आश्रय से अपने अस्तित्व को स्वीकार किया है। आप कहेंगे, कैसे? विचार कीजिए। अगर हम किसी से पूछें कि आप कौन

हैं? तो वह कहेगा कि मैं अमुक व्यक्ति हूँ। मगर भाई, हम कैसे मानें कि अमुक व्यक्ति हैं? तो भाई देखो, यह तो मेरा हाथ, मैं व्यक्ति हूँ। इसका मतलब क्या हुआ कि जो उत्पन्न हुई वस्तु थी, उसके आश्रय से आपने अपने अस्तित्व को स्वीकार किया है। वह ज्यादा समझदार हुआ, तो कहेगा, साहब! मैं हिंदुस्तानी हूँ। यह कैसे मालूम कि जिस देश में तुम रहते हो, उसका नाम हिंदुस्तान है? क्या भैया! उस देश के आकाश और दूसरे देश के आकाश में विभाजन है? बोले सो तो नहीं। तो यह जो तुम्हारा कहना है कि मैं हिंदुस्तानी हूँ, सो तुम्हारी काल्पनिकता है या वास्तविकता है? बोले वास्तविकता है। क्या वास्ततिकता है? हमारी भाषा का भेद है, हमारे रहन-सहन का भेद है, हमारी संस्कृति का भेद है। अतः हम हिंदुस्तानी हैं। तो भाई देखो, एक बात तो बताओ, तुम्हारी आँखों की भाषा और तुम्हारे पैरों की भाषा एक है? बोले, सो तो नहीं है। आकृति एक है? बोले सो तो नहीं है। तो तुम आँखो को अलग क्यों नहीं मानते? और पैरों के अस्तित्व को अलग क्यों नहीं मानते? बोले, सो कैसे मानें महाराज! वे एक ही शरीर में हैं। तो हम कहें कि मेरे प्यारे! हिन्दुस्तान भी एक ही विश्व में है। कैसे अलग मानते हो? बोले, इस दृष्टि से तो हम हिन्दुस्तानी नहीं हैं, हम तो इस विश्व के प्राणी हैं। तो अच्छा भैया! अगर तुम इस विश्व के प्राणी हो, तो क्या गहरी नींद में तुम उस विश्व का अनुभव करते हो? तो उसे कहना ही होगा—नहीं करते। तो तुम किसके प्राणी हो? बोले यह हम जानते नहीं कि किसके प्राणी हैं। तो जितना जाना था, वह तुम्हारा सत्य था कि असत्य था? इससे क्या सिद्ध हुआ कि जाने हुए जगत् के हम नहीं हैं? विचार करो।

कोई कहें कि नहीं हम जागृति के भले ही नहीं हों, स्वप्न के भले ही न हों पर सुषुप्ति के तो हैं? तो बोलो भाई, समाधि में सुषुप्ति रहती है कि नहीं रहती? तो बोले, हम समाधि के तो हैं। भैया, अगर समाधि के रस के भोक्ता न हों तो क्या समाधि से सम्बन्ध रहता है? बोले-नहीं। तो मेरे भाई! असंगता का प्रश्न केवल मिथ्या से ही नहीं है, असंगता का प्रश्न है समाधि के सुख से भी, चिन्तन के सुख से भी और क्रिया के सुख से भी। तो असंगता हो किससे? तो बोले, दूसरे के द्वारा जो हम सुख भोगते थे उससे। तो क्या जिससे हमें असंगता करनी है, उसकी निन्दा करें? बोले निन्दा करने से तो सम्बन्ध जुड़ा रहेगा। हम स्तुति करें? तो बोले स्तुति करने से भी सम्बन्ध जुड़ा रहेगा। बोले, उसका विरोध करें? बोले उसका विरोध करने से भी सम्बन्ध जुड़ा रहेगा। तो उससे क्या करें? उससे तादात्म्य न करें, उसका समर्थन न करें, उसका विरोध न करें। किसका? जो अपना जाना हुआ है, उसका। बोले,

समर्थन न करने से हमारी कोई हानि तो नहीं हो जायेगी? बिल्कुल हानि नहीं होगी। लाभ क्या होगा? तो समर्थन न करने से तादात्म्य के त्याग का बल आ जाएगा। बोले, तादात्म्य के त्याग से हमें क्या मिलेगा भाई! उसको अगर पहले से स्वीकार कर लोगे, तो मिलने में देर हो जायेगी। क्यों? तादात्म्य के टूटने में और 'उसके' मिलने में अगर कोई दूरी होती, तो वर्णन ठीक होता, उचित होता।

लेकिन भाई मेरे! तादात्म्य के टूटने और 'उसके' मिलने में कोई दूरी नहीं है। इसलिए प्राप्त करो वर्णन मत करो। उसी मस्ती में लोगों ने यह कह दिया कि संसार नहीं है। उसी मस्ती में लोगों ने यह कह दिया कि संसार अपना ही स्वरूप है। उसी मस्ती में लोगों ने यह कह दिया कि संसार की यह लीला है यह मस्ती की अंतिम आवाज है। यह सिद्धान्त नहीं है, यह साध्य नहीं है, यह साधन है। इसलिए भाई मेरे! असंग होना अनिवार्य है। अब यहाँ एक प्रश्न होता है कि जब हमें अपने ही सुख से असंग होना है, तो हमें किसी के दुःख की क्यों परवाह करनी चाहिए? यह प्रश्न आता है न? हमारे साथी ने एक दफे कहा कि आप कहते हैं कि अधिकार का त्याग करें, तो हमें क्या जरूरत है कि किसी के अधिकार की रक्षा करें? तो भैया! गरज यह है कि तुम बिना करे, रह नहीं पाओगे। करने का राग तुममें है, इसलिए दूसरे के अधिकार की रक्षा करो। अगर तुम दूसरे के दुःख से करुणित नहीं हो सकते, तो अपने सुख से असंग नहीं होगे। कभी-कभी मुझे तो ऐसा दुःख होता है कि हमारे प्यारे! हमें सुख से असंग करने के लिए दुःख-रूप में अवतरित होते हैं। इसलिए भाई, दुःख के रूप में यदि सही देखना चाहते हो तो अपने प्रियतम को देखो। क्यों उसने दुःख का भेष बनाया है? इसलिए कि हम सुख की दासता से रहित हो जायें। हमको सुख की दासता से असंग करने के लिये प्रभु विवश होकर दुःख के रूप में प्रकट होकर दुःखी होते हैं।

क्या आपने नहीं सुना कि प्रह्लाद जी को गोद में लेकर नरसिंह भगवान् अधीर हो गये और कहने लगे—भैया प्रह्लाद! मुझे देर हो गई, तुझे बड़ा कष्ट हुआ। क्षमा माँगते हैं, दुलार करते हैं, अपनी भूल स्वीकार करते हैं और अन्त में कहते हैं, भैया तू कुछ माँग ले। यह है अनन्त का स्वभाव! और इधर प्रह्लाद, गुणों के भोग में डूबा हुआ प्रह्लाद, अपनी आस्था के अभिमान में डूबा हुआ प्रह्लाद कहता है, 'मुझे कुछ नहीं चाहिए।' यहाँ तक कह दिया कि, 'क्या तुम मुझे बनिया समझते हो? मुझे कुछ नहीं चाहिए।' भगवान् फिर अधीर होते हैं कि मेरा दुलारा साधन के अभिमान में डूबा हुआ है। फिर कहते हैं, 'भैया प्रह्लाद! तू कुछ माँग ले।' प्रह्लाद उसी साधन के अभिमान में

कहता है कि अच्छा, तो मैं यह चाहता हूँ कि मैं कुछ न चाहूँ! प्रभु कहते हैं-''एवमस्तु'', अच्छा ऐसा ही होगा, तू चाह-रहित हो जा।' आप सोचिए। उसके बाद प्रह्लाद ने एक प्रश्न किया प्रभु से। क्या प्रश्न किया? कि महाराज! आपका बैरी मेरा पिता था, कि उसका अभिमान? तो भगवान् ने कहा, 'उसका अभिमान।' तो आपने मेरे पिता को मारा, कि अभिमान को? प्रभु ने अपने को अपराधी स्वीकार किया। लेकिन प्रह्लाद को यह बोध करा दिया कि जिसकी ममता जिसमें है, वह उससे कभी भी चाह-रहित हो नहीं सकता। प्रह्लाद जी का सारा चरित्र प्रभु की आस्था को दृढ़ करने वाला है।

इसलिए भाई मेरे! असंगता की आवश्यकता किस सीमा तक है, इस पर जब हम और आप विचार करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है कि असंगता में ही प्रभु की आत्मीयता सजीव होती है। और इस बार जो सत्संग-सप्ताह का विषय रखा गया था उसमें तीन ही बातें रखी गई थीं-निष्कामता से उदित चिर-विश्राम, असंगता से प्राप्त स्वाधीनता, आत्मीयता से जाग्रत अगाध नित-नव प्रियता। यह जीवन की माँग है, यह पूरी हो सकती है और वर्तमान में पूरी हो सकती है। प्रत्येक दार्शनिक दृष्टिकोण से पूरी हो सकती है, प्रत्येक प्रणाली से पूरी हो सकती है। किन्तु भैया! विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम की जो माँग है, वह नित-नव बढ़ती रहे, उसके प्रति हमारी उत्कंठा रहे, नित-नया उत्साह रहे और इतनी उसमें आस्था रहे कि यह तो हो ही नहीं सकता कि हमें विश्राम, स्वाधीनता तथा प्रेम की प्राप्ति न हो। प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को विश्राम, स्वाधीनता और प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। यह संभव है। संभव से निराश होना प्रमाद है। असंभव की आशा करना प्रमाद है। इसलिए सत्संग-सप्ताह में हम सब प्रमाद-रहित होने के लिए परस्पर विचार-विनिमय कर रहे हैं। न आदेश है, न उपदेश है, न संदेश है। हम सब साधक हैं और साधक होने के नाते परस्पर में विचार कर रहे हैं। इस दृष्टि से कि न जाने, प्रभु किस मुँह से कब कोई ऐसी वाणी सुना दे कि जिससे हमारे और आपके जीवन की माँग है, उसमें आस्था हो जाये कि हमको जीवन मिल सकता है, माँग पूरी हो सकती है। इस दृष्टि से आज असंगता की बात कही गई कि भाई, असंगता के बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में प्रवेश नहीं होता। जहाँ स्वाधीनता है, वहाँ चिन्मयता है, जहाँ चिन्मयता है वहाँ पूर्णता है, जहाँ पूर्णता है, वहाँ आत्मीयता है और जहाँ आत्मीयता है, वहाँ अगाध, अनन्त, नित-नव रस है, इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

।। हरि ॐ।।

27 दिसम्बर, 1959, प्रातःकाल

प्रवचन

9

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

निस्संदेह मानव-जीवन बड़े ही महत्त्व का जीवन है। प्रभु ने अथवा उसने जिसे हम नहीं जानते, अपने नित-नव रस के लिए मानव का निर्माण किया है। मानव यदि अपने जाने हुए का आदर करे, अथवा यों कहो कि अनादर न करे, मिले हुए का दुरुपयोग न करे, सुने हुए में अश्रद्धा न करे, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक वह अपने लिए, जगत् के लिए और जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है। हम सबसे बड़ी भूल यह होती है कि हम अपने जाने हुए से दूसरों को समझाने का प्रयास करते हैं। यह रोग जब तक रहेगा, बेसमझी उत्तरोत्तर बढ़ेगी। जब हम अपने जाने हुए से अपने ही को समझायेंगे, तो मेरा विश्वास है कि अपने में से ही नहीं, विश्व में से भी बेसमझी चली जायेगी। आज जो जीवन की समस्या कठिन हो रही है उसका एकमात्र कारण यह है कि अपने को समझाने वाले ज्ञान का उपयोग दूसरों पर करने लगे और दूसरों को अपनाने वाले प्यार का उपयोग अपने पर करने लगे। देखिए! यह जो न्याय है, जिसकी स्थापना के लिए राष्ट्र की कल्पना हुई, वह न्याय यदि हम अपने साथ करने लगें, तो मेरा ऐसा विश्वास है कि मानव-समाज को राष्ट्र की आवश्यकता न रहेगी। जिसे आप प्रेम कहते हैं, मजहब का ही दूसरा नाम है, या प्रेम का ही दूसरा नाम मजहब है और न्याय का ही दूसरा नाम राष्ट्र है। जीवन को ऊँचा उठाने में न्याय और प्रेम का बहुत बड़ा स्थान है। किन्तु उसे, जो दूसरों के साथ करना चाहिए। हम अपने साथ करते हैं और जो अपने साथ करना चाहिए, वह दूसरों के साथ करते हैं। न्याय घृणा नहीं है, दण्ड नहीं है, किसी को व्यथित करना नहीं है, अपितु उसके द्वारा अपनी वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखना है। यह है न्याय। तो यदि आज हम भूतकाल की जानी हुई भूल को न दोहराएँ और वर्तमान की निर्दोषता को सुरक्षित रखें, तो हम अपने साथ न्याय करते हैं। उस न्याय का परिणाम यह होगा कि जीवन में दोष की उत्पत्ति ही नहीं होगी। किन्तु कुछ काल की हुई भूल की याददाश्त प्रकट होगी नाश होने के लिए। जिस समय वह प्रकट हो, उस समय अविचल आस्था को हिलने-डुलने न दें कि हमारा वर्तमान निर्दोष

है। उस उत्पन्न हुई याददाश्त के साथ सहयोग न करें, अर्थात् उससे भयभीत न हों, उसका सुख न लें, उससे तादात्म्य न रखें। उसका परिणाम यह होगा कि वह निर्जीव होकर सदा के लिए नाश हो जाएगी। फिर जिसको लोग योग की भाषा में निर्विकल्पता और समता कहते हैं और उपासना की भाषा में जिसे अखंड ध्यान कहते हैं, वह अपने–आप होने लगेगा।

सत्य के पुजारी को, प्रेम के अधिकारी के, उस होने वाले अखंड ध्यान में भी रमण नहीं करना है। तब अपने–आप ध्यान से परे, समाधि से अतीत, दिव्य–चिन्मय जीवन से एकता होगी। उस एकता को पाकर हम अपने को न बनाये रखें, अपितु उस श्रद्धास्पद की आत्मीयता और अपनापन स्वीकार करें। तब वह अखंड स्मृति, जिसमें अगाध–अनन्त नित–नव रस है, जो पूर्ति निवृत्ति और क्षति से रहित है और जो प्राप्ति, बोध और प्रियता की साक्षात् प्रतीक है, स्वतः जगेगी। असंगता का ही दूसरा नाम असहयोग है। असहयोग ने हमें घृणा से, द्वेष से मुक्त किया है, और उसके साथ–साथ राग से भी रहित किया है। असहयोग का अर्थ है जो अपना नहीं है उससे ममता नहीं करेंगे, उसका दुरुपयोग नहीं करेगे, उससे घृणा नहीं करेंगे, अर्थात् इसका जो उल्टा है–करने का उल्टा क्या है? न करना–उसको अपनायेंगे। उसके बाद सही करना स्वतः होगा। तो वही असहयोग सेवा के रूप में, त्याग के रूप में, अभिव्यक्त हो जाएगा। जैसा कि अभी आपने सुना था कि सेवा करने के लिए सभी अपने हैं अपने लिए कोई अपना नहीं है, इसका अर्थ यही है कि जहाँ तक आपकी बुद्धि देखती है, जहाँ तक आपकी इन्द्रियाँ देखती हैं वहाँ तक जो कुछ दिखाई देता है, वह अपने लिए नहीं है। तो अपने लिए कौन है कि बुद्धिदृष्टि के पीछे सदैव अखंड रूप से जो आपका सचमुच अपना है, जो कभी आपसे अलग हुआ नहीं, अलग हो सकता नहीं, वह आपका अपना है। उसमें आत्मीयता हमें श्रद्धा से, विश्वास से, अविचल आस्था से स्वीकार करनी है।

हम अनाथ नहीं हैं, अपितु सनाथ हैं। सनाथ होने के नाते किसी की प्रियता हैं, किसी की सेवा हैं। वह हमारे प्रियतम जब विश्व के रूप में अभिव्यक्त होते हैं, तब हम उनकी सेवा हैं, और वही हमारे प्रियतम जब विश्व के अतीत का खेल खेलते हैं, तब हम उनकी प्रीति हैं। सेवा और प्रीति में मानवता है और वह मानवता बीजरूप से प्रत्येक वर्ग, देश, मत, सम्प्रदाय, विचारधारा के भाई–बहन में मौजूद है। उस मौजूद मानवता को विकसित करने के लिए हम सब भाई–बहनों को सोने से पहले और जगने के बाद अपने–अपने को समझाने के लिए–गुरु बनने के लिए नहीं, नेता बनने के लिए नहीं, घर का मालिक बनने के लिए नहीं–अपने से अपने को समझाने के लिए

जो विवेकरूपी प्रकाश मिला है, उसमें रहकर, सत्संग–योजना को चरितार्थ करना चाहिए। यह सत्संग–सप्ताह प्रत्येक वर्ग के भाई–बहन से यह प्रार्थना करता है कि हम सोने से पहले कम से कम समय, अल्प से अल्प काल बिना अपनी वस्तुस्थिति का अध्ययन किए नहीं सोएँगे और जिनमें हमने आत्मीयता स्वीकार की है, उन्हीं की मधुर स्मृति लेकर सोएँगे और जगने के बाद या तो उन्हीं के नाते सभी की सेवा करेंगे अथवा जागृत–सुषुप्ति में समाधिस्थ होकर रहेंगे। हमें कोई अधिकार नहीं है कि यदि हम दुःखी को देखकर करुणित नहीं हो सकते तो हम देखें। हमें कोई अधिकार नहीं है कि, यदि सुखी को देखकर प्रसन्न नहीं हो सकते, तो हम उसे देखें। इस दृष्टि से आपका जीवन भगवान् की अथवा विश्व की सेवा है। अध्यात्मवाद की दृष्टि से यह आपका ही स्वरूप है। आस्तिकवाद की दृष्टि से आपका जीवन उस अनन्त की प्रीति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति में सेवा, निवृत्ति में प्रीति होकर उस जीवन में हम लोग नित्य वास करेंगे, जिसको तत्त्ववेत्ताओं से, सद्ग्रन्थों से, सत्–पुरुषों से, भक्तों से, जीवन–मुक्तों से सुना है। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं है।

।। हरि ॐ।।

27 दिसम्बर, 1959, सायंकाल

प्रवचन

10

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई-बहन!

कोई भी उत्पत्ति ऐसी नहीं हो सकती, जिसके मूल में कोई अनुत्पन्न तत्त्व न हो, कोई भी प्रतीति ऐसी नहीं हो सकती, जिसका कोई प्रकाशक न हो; कोई दृष्टि ऐसी नहीं हो सकती, जो किसी प्रकाश से प्रकाशित न हो। इस कारण हमें उसमें आस्था करनी ही होती है, जो हमारे व्यक्तित्व की उत्पत्ति से पूर्व है। व्यक्तित्व और विश्व स्वरूप से एक हैं। जैसे, व्यक्ति और समाज स्वरूप से एक हैं, जैसे, कमरा और बिल्डिंग स्वरूप से एक हैं। वैसे ही व्यक्तित्व और विश्व स्वरूप से एक हैं। जहाँ हमें यह मालूम होता है कि व्यक्तित्व की उत्पत्ति हुई है वहाँ हम सबको यह भी मालूम होता है कि विश्व की उत्पत्ति हुई है। तो जब प्रत्येक उत्पत्ति के मूल में अनुत्पन्न तत्त्व है, तब उसमें आस्था, क्या अनिवार्य नहीं है? उत्पत्ति के द्वारा उत्पत्ति की प्रतीति है, चाहे उसमें उत्पत्ति के अर्थ में स्थूल शरीर को ले लें, सूक्ष्म शरीर को ले लें, कारण शरीर को ले लें, और चाहे प्रतीति के अर्थ में स्थूल जगत् को ले लें, सूक्ष्य जगत् को ले लें, कारण जगत् को ले लें। उत्पत्ति द्वारा अनुत्पत्ति की प्रतीति नहीं है। इस कारण जिसकी प्रतीति आज तक नहीं हुई-इन्द्रिय-दृष्टि से, बुद्धि-दृष्टि से-उसी में अविचल आस्था करनी है। कैसे होगी? उसका एक सुगम उपाय है, सहज उपाय है। क्या? आप यह स्वीकार कर लें कि 'प्रभु में हमारी आस्था है।' आप कहें कि हमको तो बुद्धि धोखा देती है अर्थात् आस्था स्वीकार करने में बाधक होती है। हम कैसे आस्था स्वीकार करें? यदि तुम बुद्धि से अपने को अलग जानकर स्वयं प्रभु में आस्था करते हो तो बुद्धि तुम्हारे सहयोग से बिना तुम पर शासन नहीं कर सकती। जब तुम बुद्धि की दासता स्वीकार करते हो, तब बुद्धि तुम पर शासन करती है। अतः प्रभु की आस्था में बुद्धि बाधक नहीं हो सकती। जिस समय आप यह स्वीकार कर लेंगे कि हमारी प्रभु में आस्था है, कुछ काल के बाद बुद्धि भगवती भी स्वीकार कर लेगी।

जब मेरे जीवन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ था कि मुझे साधु होना है और इसलिए साधु होना है, कि मैं उस सुख के बिना नहीं रह सकता, जो दुःख से

रहित हो, तो आप जानते हैं कि साधु होने के लिए साधुओं के पास जाना पड़ता है। तो साधुओं के पास गया। और साधुओं का यह सहज स्वभाव होता है कि हरेक से वे यह कहते हैं कि तुम भजन करो। मुझसे भी कहा। तो मैंने तुरन्त उत्तर दे दिया भजन क्या है? क्या होता है? भजन किसे कहते हैं? उन्होंने कह दिया-'राम-राम भजो'। यही न परम्परा है? आप देखेंगे। तो मैंने तुरन्त कह दिया कि राम-नाम पर मेरी श्रद्धा नहीं है। तो वे संत नाराज नहीं हुए, शान्त, गम्भीर हो गए और तुरन्त मुझसे पूछा-क्या तुम ईश्वर के अस्तित्व में आस्था नहीं रखते? क्या तुम ऐसा नहीं मानते कि ईश्वर है? तो मैंने कहा कि मैं यह नहीं मानता कि ईश्वर नहीं है। तो वे महात्मा बहुत प्रसन्न हो गये और पूछा-तुम ईश्वर को मानते हो? मैंने कहा-जी। तो फिर कोई बात नहीं है, यार! उसके शरणागत हो जाओ। न उन्होंने कहा कि माला फेरो, न उन्होने यह कहा कि पाठ करो, न उहोंने यह कहा कि यह करो, वह करो। एक बात कही कि शरणगत हो जाओ। मैं नहीं समझता कि उस वाक्य में क्या जादू था! मैंने ईश्वर का कार्टून बनाकर ईश्वर को चिन्तन नहीं किया। क्यों? जिसके सम्बन्ध में अनेक प्रकार के वर्णन हों, कोई भी सजग मस्तिष्क किसी एक प्रकार को स्वीकार नहीं कर सकता। मैं सजग मस्तिष्क की बात कहता हूँ। मेरी हठ थी, यह मत मान बैठना कहीं। आप सोचिए कि किसी पक्ष को यदि स्वीकार कर लेते हैं, तो हमें अपने पक्ष की हर बात अच्छी लगती है और दूसरे पक्ष की हर बात में सन्देह होता है। जो किसी भी पक्ष को स्वीकार कर लेता है, वह कभी-भी सजग नहीं हो सकता। जैसे किसी पक्ष के विरोधी को मैं सजग नहीं मानता, वैसे ही किसी पक्ष के समर्थक को भी मैं सजग नहीं मानता। मस्तिष्क उसी का सजग रहता है, जो ईमानदारी से न विरोधी है, न समर्थक है।

अगर मुझसे कहा गया होता कि तुम इस प्रकार के ईश्वर का चिन्तन करो तो शायद मैं तर्क करता। मुझसे यह नहीं कहा गया कि इस प्रकार के ईश्वर का चिन्तन करो। मुझसे तो यह कहा गया कि जिस प्रकार के ईश्वर को मानते हो, उसके तुम शरणागत हो जाओ। कितना अच्छा होता कि मुझको उस समय कह दिया होता कि तुम उसके शरणागत हो गए। मैं समझता हूँ कि तब मैं गुरु परम्परा को इतने जोर से पकड़ता कि कभी छोड़ ही नहीं सकता था। पर गुरु तो वह होता है, जो गुरु बनके नहीं आता, दोस्त बनकर आता है, सुहृद बनकर आता है, अपना होकर आता है। वही वास्तव में गुरु होता है। तो उन्होंने कहा कि भैया! तुम उनके शरणागत हो जाओ। चलते-फिरते, उठते-बैठते स्वतः चिन्तन जाग्रत होगा, किसी आकृति को लेकर नहीं, किसी

नाम को लेकर नहीं। अब आप सोच सकते हैं कि वह चिन्तन क्या होगा! उस समय मुझको यह कहते कि तुम नाम क्यों नहीं लेते हो, तो मालूम है उत्तर क्या देता? नाम तो वे लेते हैं, जो दूर मानते हैं। माफ कीजिए! मैं नाम का विरोध नहीं करता हूँ। नाम के प्रेमी को चोट न लगे। आत्मीयता की बात कहने के लिए भूमिका बना रहा हूँ। मैं नाम का विरोधी नहीं हूँ। आप जितनी श्रद्धा रखते होंगे उतनी तो रखता ही हूँ, उससे कुछ और ज्यादा ही मान लीजिए। कोई कहे कि ध्यान करो तो ध्यान तो वह करे, जो किसी प्रकार की दूरी अनुभव करता हो।

अब हमें करने को क्या रह गया? प्यार। कैसे हो? तो एक दिन एक महिला अपनी ननद से कह रही थी कि देखो विशन (विशन देवी ननद का नाम था), तुम्हारे भैया वे खड़े हैं। यह बात मैंने कानों से सुनी। अब हृदय एकदम व्यथित हो गया कि देखो, प्रेम करना तो ये जानती हैं। इतने आदमी खड़े हैं और उतने आदमियों में उन्हें विशन के भैया दीखते हैं। हाय! हाय! मैं जिनके शरणागत हूँ, उनको कहीं देख नहीं पाता! एक दिन की बात, एक दूसरी महिला थी। मैंने उनसे पूछा-कहिए, क्या हाल है? बोली-क्या बतायें, अँधेरा-सा दीखता है! अब हृदय में चोट लगी। गौने से वापिस आई थी। यह बिल्कुल सच्ची घटना है। तो हमने कहा-देखो इन्हें पति के वियोग में दिन में भी अँधेरा दीखता है। और मुझे प्रिय के वियोग में अँधेरा नहीं दीखता! प्रेम करना तो ये जानती हैं। नींद आती नहीं थी, कल पड़ती नहीं थी। रात्रि का समय था। मुझे यह नहीं बताया गया कि यों संयम करो, यों तप करो, यों नियम करो। मुझे कुछ नहीं बताया गया। किसान लोग खेत रखा रहे थे। एक दम विचार उदय हुआ। ये सारी रात जगेंगे थोड़े से अन्न के लिए, और मैं सोना चाहता हूँ अक्षय आनन्द को सामने रखकर! इस प्रकार प्रत्येक घटना मुझे उसकी स्मृति जगाने में सहायता करती थी । अब तो मैं यह कह सकता हूँ कि उनके सिखाने के न जाने कितने ढंग हैं, न जाने कितना षड़यंत्र रचते हैं अपने में फँसाने के लिए! किन्तु भैया! एक बात आपकी होनी चाहिए, अनेक नहीं।

महाराज ने कह दिया, शरणागत हो जाओ, और 'ना' नहीं निकला। मैं तो समझता हूँ कि कहा भी उन्होंने और स्वीकार भी किया उन्होंने। उसी को तो गुरु कहते हैं। गुरु उसे नहीं कहते हैं, जो साधन कराए, मजदूर बनाए। माफ कीजिएगा, वह गुरु नहीं है। गुरु कहते हैं उसको, जो साधन स्वयं करे और सिद्धि शिष्य को मिले। लेकिन यह राज न खुल जाये; इसलिए थोड़ा पर्दा रखते हैं, गुरुजन। मेरा तो यह पूरा विश्वास है कि प्रेमास्पद को जितनी माँग है

समस्त विश्व के प्रेमियों की माँग इकट्ठी करो, तो नहीं के बराबर है। इसलिए भाई! आप जैसे हैं वैसे ही, तैयारी के साथ नहीं, सहज भाव से, सरलता से यह स्वीकार कर लें कि अब हम अनाथ नहीं हैं, हम सब बेमालिक नहीं हैं। संसार की कोई भी मिलकियत जब बिना मालिक के नहीं है, तो यह मिलकियत बिना मालिक के कैसे हो सकती है? विचार तो करो! अन्तर इतना ही है कि हम उन्हें नहीं जानते, तो क्या वे भी हमें नहीं जानते? हम उन्हें नहीं मानते, तो क्या वे भी हमें नहीं मानते? क्या वे हमारे मानने पर हमें अपना मानेंगे? क्या हमारे जानने पर वे हमें अपना जानेंगे? त्रिकाल में भी नहीं। हम मानें तो भी वे हमें अपना मानते हैं, हम जानें तो भी हमें वे अपना जानते हैं। हम न जानें, हम न मानें, तब भी हमें वे अपना मानते भी हैं और हमें जानते भी हैं। इस आस्था को लेकर हम और आप आत्मीयता को स्वीकार कर लें कि "प्रभु हमारे हैं"। क्यों हमारे हैं? बोले-इसलिए कि "प्रभु हैं।" भाई! प्रभु कहते किसको हैं? क्या प्रभु उसको कहते हैं जो किसी देश-विशेष का मालिक हो? क्या उसको कहते हैं जो किसी वर्ग विशेष का मालिक हो, क्या उसको कहते हैं, जो किसी लोक विशेष का मालिक हो? या उसको कहते हैं, जो सभी का मालिक है? तो जो सभी का मालिक है, वह हमारा भी मालिक है।

माधव भैया की माँ बड़ी सात्त्विक सत्युगी माँ थीं। और इनमें जो स्नेह है न, ये भले ही शेखी मारें, पर इनकी माँ का दिया हुआ है। इन्होंने एक बार मुझको एक पत्र लिखा कि महाराज जी, मैं अनाथ हो गया, मेरी माँ नहीं रहीं। मैंने लिखा, भैया! विश्वनाथ के रहते हुए तुम अनाथ कैसे हो सकते हो? तुम अनाथ नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि जिस रूप में वात्सल्य-स्नेह आज तक तुम्हें मिलता था, वह भले ही छूट गया हो, लेकिन तुम अनाथ नहीं हो। विश्वनाथ मौजूद हैं। तो यह जो मानव अपने में एक अनाथपन का अनुभव करता है वह अनाथपन का अनुभव उसकी भूल है, असावधानी है। वास्तव में कोई भी अनाथ नहीं है। सभी सनाथ हैं और सदैव सनाथ हैं। आप जानते हैं, अनाथपन का अनुभव क्यों होता है? यह अनाथपन का अनुभव तब होता है जीवन में, जब हमारे पास अपना करके कुछ होता है। जिसके पास अपना करके कुछ भी है, वह सदैव अपने को अनाथ अनुभव करता है। कल्पना करो, यह रोगी शरीर मेरे पास न हो, तो क्या दीनता मेरे जीवन में कभी आ सकती है? अगर स्वस्थ शरीर आपके पास न हो, तो क्या कभी अभिमान आपके जीवन में आ सकता है? अभिमान के बिना क्या भेद की उत्पत्ति हो सकती है? कभी नहीं हो सकती है? तो आप अपने में जो

अनाभपन का अनुभव करते हैं, असमर्थता का अनुभव करते हैं, इसका अर्थ यह है जो वस्तु आपको मिली है, आपने उसको अपना मान लिया है। आपने अपने को उससे मिला लिया है कि यह वस्तु हमारी है, कि यह वस्तु हम हैं। तब आप दीनता से, अभिमान से बच नहीं सकते। इसलिए भाई! अगर विचार करना है तो इस बात पर विचार मत करो कि प्रभु कैसे हैं, कहाँ हैं।

विचार इस बात पर करो कि जो शरीर आपके पास है क्या सचमुच वह आपका है? क्या सचमुच आप वह हैं? और यह विचार, मालूम है, कैसे होगा? बुद्धि के द्वारा नहीं होगा। जितनी देर आप भीतर-बाहर से चुप रहकर, देखेंगे, क्या शरीर मेरा है! क्या शरीर मैं हूँ! तो जिस प्रकाश में बुद्धि-दृष्टि देखती थी, इन्द्रिय-दृष्टि देखती थी, वह प्रकाश आपको स्वयं बोध करा देगा कि शरीर आपका नहीं है, शरीर आप नहीं हैं, यह मस्तिष्क से निर्णय नहीं करना पड़ता। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि विचार और विश्वास में अभ्यास की गंध तक नहीं है, परिश्रम की गंध भी नहीं है। दोनों ही श्रम से रहित हैं, दोनों ही अभ्यास से रहित हैं। हम लोग करने के राग में इतने आसक्त हो गये हैं कि हर चीज को करना चाहते हैं, बुद्धि के द्वारा ज्ञानी होना चाहते हैं। नहीं हो सकते; दार्शनिक नहीं हो सकते। इसलिए भाई! गम्भीरता से विचार करो कि जब शरीर आपका नहीं है, तो क्या इसका कोई मालिक नहीं है? लेकिन जब आप ही मालिक बन जाते हैं, तब उस मालिक में कैसे आस्था हो? जब तक आपका मन है, तब तक न वह शांत होगा, न वह स्थिर होगा, न वह शुद्ध होगा। जब तक आपकी बुद्धि है, तब तक न वह सम होगी, न विवेकवित् होगी, यह निश्चित बात है। जिस दिन आप इस बात का अनुभव करें कि मन मेरा नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, बुद्धि सम और विवेकवित् होगी, मन शुद्ध और शान्त होगा। इसलिए भाई, जब कोई वस्तु आपकी नहीं है, तो क्या वह बिना मालिक की है, बेआसरे है? न वह बे-मालिक हैं; न वह बे-आश्रय है। हम वस्तु को अपना मानकर अपने को पराधीन, और वस्तु का विनाश, वस्तु के विकास में रुकावट उत्पन्न कर देते हैं।

अगर आपको मन का विकास करना है, तो उस पर से ममता हटाओ। बुद्धि का विकास करना है, तो उस पर से ममता हटाओ। शरीर का विकास करना है तो उस पर से ममता हटाओ, परिवार का विकास करना है, तो उस पर से ममता हटाओ। और विश्व का विकास करना है, तो विश्व पर से ममता हटाओ। जिस समय साधक ममता के पत्थरों के बोझ से विश्व को, शरीर को, इन्द्रियों को, मन को, प्राण को बुद्धि को मुक्त कर देता है, उसी समय वे सब जिसके हैं, जिसके थे, जिसके रहेंगे, उसमें लय हो जाते हैं। आप सच मानिए,

इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, प्राण, ये सब उस अनन्त की विभूतियाँ हैं। हमारी ममता ने इनकी दुर्दशा की है। जब हम अपनी ममता इनसे हटा लेंगे, तब ये सब विभूतियाँ अपने-अपने कारण में विलीन हो जाएँगी और समस्त कारणों का जो महाकारण है, समस्त आश्रयों का जो महाआश्रय है, समस्त उत्पत्तियों के मूल में जो अनुत्पन्न तत्त्व है, उसमें आस्था हो जाएगी। उसके होते ही श्रद्धा जगेगी, उसके जगते ही विश्वास होगा और उसके होते ही आत्मीयता आ जाएगी। आत्मीयता का अर्थ क्या है? वे अपने हैं, अपने! आत्मीयता का अर्थ यह नहीं कि बड़े सुन्दर हैं, आत्मीयता का अर्थ यह नहीं कि साकार हैं और निराकार हैं। माफ कीजिएगा, साकार कह दो, तो अधूरे और निराकार कह दो, तो अधूरे, दोनों को मिलाओ, तो अधूरे। कैसे करोगे पूरे? बताओ? कहीं संगठन से चीज पूरी होती है?

इसलिए भाई, चाहे जैसे हैं और चाहे जहाँ हैं और चाहे कुछ करें। तीनों की आजादी दे दो कि दादा! चाहे जो करना हो और चाहे जैसे हो, चाहे जहाँ हो, पर अपने हो। अपने होने से प्यारे हैं, प्यारे। जो चीज अपनी होती है, उसमें प्रियता जगती है और प्रियता जो है वह रस की प्रतीक है। प्रियता और किसी की प्रतीक नहीं है। और रस जो है, आप जानते हैं, रस किसे कहते हैं? जिससे कभी तृप्ति न हो, जिसकी कभी निवृति न हो और जिसकी कभी पूर्ति न हो। तृप्ति नहीं होती रस से, निवृति नहीं होती रस की, और पूर्ति नहीं होती रस की। वह रस प्रियता में प्रियता आत्मीयता में, आत्मीयता विश्वास में और विश्वास श्रद्धा में और श्रद्धा आस्था में निहित है। इस दृष्टि से हम सब अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार, अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार किसी में आस्था करें, पर वह एक हो। एक में आस्था होने से अनन्त में आस्था हो जाती है, प्रभु में आस्था हो जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

॥ हरि ॐ ॥

28 दिसम्बर, 1959, प्रातः काल

प्रवचन

11

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई तथा बहन!

अभ्यास से साध्य नहीं, विचार से साध्य नहीं, आत्मीयता से जागृत अगाध अनन्त, नित–नव प्रियता में ही जीवन की पूर्णता है। उस आत्मीयता को सुरक्षित रखने के लिए हमें इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा कि अपने को जो कुछ मिला है, वह अपना नहीं है और अपने लिए नहीं है। जब–जब आत्मीयता धुँधली होती है, तब–तब आप देखेंगे कि हम इस बात को भूल जाते हैं और यह सोचने लगते हैं कि स्वस्थ शरीर के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, संग्रहीत सम्पति के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, प्राप्त योग्यता के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, प्राप्त पद के द्वारा हमें कुछ मिल सकता है, यह बात अवश्य आ जायेगी। और यह बात आई कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारे लिए है और हमारा है, फिर न विश्व के साथ आत्मीयता हो सकती है, न प्रभु के साथ और न अपने साथ आत्मीयता हो सकती है। और जाने दीजिये, माँ बनकर बेटे के साथ आत्मीयता नहीं रहती, पत्नी बनकर पति के साथ आत्मीयता नहीं रहती, पति बनकर पत्नी के साथ आत्मीयता नहीं रहती, मित्र बनकर मित्र के साथ आत्मीयता नहीं रहती। कब? जब आपने यह स्वीकार कर लिया कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारा है और हमारे लिए है। इसलिए भाई, एक ही बात के द्वारा हम सबको आत्मीयता सुरक्षित रखनी है कि जो कुछ मिला है, हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। आत्मीयता किसमें सुरक्षित रखनी है? जिसमें स्वीकार की है, उसमें। और वह तीन ही जगह हो सकती हैं-विश्व में, आत्मा में और सुने हुए परमात्मा में।

आपको जो मिला है, जब वही आपका नहीं है और जब वही आपके लिए नहीं है, तब मैं आपसे पूछता हूँ कि कर्त्तव्य के क्षेत्र में हम क्यों किसी से आशा करेंगे? आप विचार कीजिये। यह तो बड़े सुन्दर ढंग से कहा जा सकता है कि साहब, हम जब कर्त्तव्यपालन करते हैं तब कुछ आशा रखते हैं। क्यों आशा रखते हैं? भाई हम इसलिए आशा रखते हैं कि जिस वस्तु के द्वारा हम कर्त्तव्य का सम्पादन करते हैं, चाहे वह तन हो, धन हो, योग्यता हो, ज्ञान हो, विज्ञान हो, कला हो, उस सामग्री को अपनी मान लेते हैं और अपने लिए मान लेते हैं, इसलिए हम दूसरों से आशा करते हैं। यदि हम इस मूल को ही

काटकर समाप्त कर दें कि भैया, हमें जो कुछ मिला है, वस्तु रूप में, ज्ञान, विज्ञान और कला के रूप में, वह न तो हमारा है और न हमारे लिए है। तो फिर हमारा कौन है? तो इसका निर्णय भीतर अपने आप कर लो कि हमारा कौन है। पर जो मिला है, वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। जब आप कहें कि अच्छा! प्रभु हमारे हैं और हमारे लिए हैं, यहाँ आत्मीयता के दो रूप हो जाएँगे। जब तक साधक यह मानता है कि प्रभु हमारे लिए हैं, तब तक गोपीजनों की आत्मीयता प्राप्त नहीं हो सकती। जब वह यह मानता है कि हम प्रभु के लिए हैं, तब गोपीजनों की आत्मीयता प्राप्त हो सकती है।

आप देखिये, भगवान् को भी अपना मानने पर और अपने लिए मानने पर अधिकार-लालसा अपने आप जगेगी। तभी श्री रुक्मिणी जी का यह साहस नहीं हुआ कि प्यारे श्याम सुन्दर के मस्तक पर चरण-रज लगा दें। प्यारे श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा है, उससे वे पीड़ित हैं, व्यथित हैं और श्यामसुन्दर कहते हैं कि कोई हमारा प्रेमी अपने चरण की रज लगा देता, तो पीड़ा दूर हो जाती। रुक्मिणी जी के पास चरण हैं, धूलि है और आत्मीयता भी श्यामसुन्दर के प्रति है। किन्तु ये हमारे पति हैं और अगर हम पति के मस्तक पर चरण की रज लगाएँगे तो हमें नरक जाना पडेगा! तो अपने लिए न पति बनाया? लेकिन यही समस्या जब ब्रजगोपियों के सामने गई, तो अच्छा! प्यारे श्यामसुन्दर के सिर में पीड़ा है, क्या वहाँ कोई उपचार करने वाला नहीं है, यह कह अधीर हो गईं, व्याकुल हो गईं कि हाय! हाय! यदि श्यामसुन्दर यहाँ होते, तो उनकी मैया उनका उपचार करतीं। अरे बाबा, वहाँ कोई उपचार करने वाला नहीं है द्वारकापुरी में? नारद बाबा, कहने लगे-गोपियो, उपचार करने वाले तो वे स्वयं ही हैं। पर औषधि ना मिलै। चकित हो गयीं। ऐसी कौन-सी औषधि है भैया? तो प्रेमियों की चरण धूलि! गोपियाँ बोलीं-जाओ-जाओ चाहे जितनी ले जाओ। अरी गोपियो तुम नहीं जानतीं, वे पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानन्दघन हैं तुम्हें नरक भोगना होगा। बोलीं-बाबा हम भली-भाँति जानती हैं। एक जन्म नहीं, अनेक जनम नरक की यातना सह सकती हैं, किन्तु प्यारे की पीड़ा नहीं सह सकतीं!

आत्मीयता कब सजीव होती है? कि जब हम जिसकी सत्ता स्वीकार करें, उसकी सत्ता अपने लिए न स्वीकार करें कि ये हजरत हमारे काम आएँगे। देखिये, किसी को अपना मानने का अर्थ क्या है? प्यार दो, आदर दो, जो है सब दो और कुछ मत लो। आप कहेंगे, यह कोई बुद्धिमानी की बात है? यह तो पागलपन है। तो भैया, इस पागलपन में कितना रस है! इसमें बुद्धिमान का प्रवेश नहीं। इसलिए अगर आप आत्मीयता सुरक्षित रखना चाहते

हैं किसी के साथ, तो देखो भाई, तुम जगत् को छोड़ दो, हमको छोड़ दो और परमात्मा को भी छोड़ दो, तुम किसी एक को अपना मान लो, लेकिन यह शर्त रखो कि हम उसे अपना इसलिए मानते हैं कि हमारे पास जो कुछ है वह उसका है, हम उसके हैं, हमें उससे कुछ नहीं चाहिये। आप ऐसा व्यवहार किसी के साथ कर सकते हैं। भगवान् के साथ करें, ऐसा मैं नहीं कहता हूँ। जिसके साथ वह व्यवहार करेंगे, वहाँ वह वस्तु छिप जाएगी और वह अनन्त प्रकट हो जाएगा। क्यों? इस रस का भोगी व्यक्ति नहीं है, व्यक्ति इस रस का भोग नहीं कर सकता। इस रस के भोगी वे ही अनन्त हैं। और इस रस के दाता जानते हैं आप? देवता नहीं हैं, मानव हैं, मानव! कितना ऊँचा स्थान है आपका। यह रस मानव ही प्रभु को दे सकता है कि हमें तुमसे कुछ नहीं चाहिये।

आपने सुना होगा, पढ़ते होंगे, भगवान् राघवेन्द्र चित्रकूट में निवास कर रहे थे। तीन श्रेणी के साधक उनसे मिलने आये। देवता आए, कहने लगे, असुरों ने हमको बहुत तंग किया है। उन्होंने कह दिया-अच्छा भैया, मैं असुरों का नाश करूँगा उनके बाद बडे-बडे विचारक और ऋषि-मुनि आए, बोले-महाराज, हम बड़ी प्रतीक्षा में थे, आपके दर्शन हो गये, कृतकृत्य हो गए। और महाराज ने कहा चले जाओ साकेत और उसमें निवास करो। छुट्टी मिली। लेकिन कुछ लोग ऐसे आए महाराज, कि जिनके जीवन में ऐसी बात थी कि सोचते थे कि, अरे हम सेवा तो क्या करें, इन्हें दु:ख न देते, तो बड़ा अच्छा था! और जो कुछ उनके पास था, कन्द मूल, फल, उसको लेकर आए और स्मृति जग गई उनकी! इस स्मृति के साथ आए और बार-बार दोना रखते हैं और जोहार करते हैं। उन्हें न काल का ज्ञान है, और न देश का ज्ञान है, न ऋतु का ज्ञान है, न व्यक्ति का ज्ञान है, न संसार का ज्ञान है, केवल प्रिय की स्मृति है और जोहार बार-बार करते हैं और जैसे आए वैसे ही गए, न कुछ कहा न कुछ सुना। तो यह तीसरी श्रेणी की जो आत्मीयता है, वास्तव में यही आत्मीयता है।

भोगार्थी किसी से आत्मीयता नहीं कर सकता, मोक्षार्थी किसी से आत्मीयता नहीं कर सकता। आत्मीयता वही कर सकता है, जो भोग और मोक्ष को फुटबॉल बनाकर ठुकरा दे। महँगी है तो इतनी और सस्ती है तो इतनी कि धोखे से, बिना सोचे, बिना समझे एक बार यह कह के चुप हो जायें कि प्रभु! नि:संदेह तुम सदैव मेरे हो, तुम सदैव मेरे हो! देखिये। यह मेरेपन का रस है और मैं तेरा हूँ, इसमें एक बड़ा गहरा अन्तर है, कौन कहता है कि मैं तेरा हूँ? जो कुछ आशा रखता है, आशा। क्यों? बडे आदमी से रिश्तेदारी हो

जाएगी, तो मोटरें बैठने को मिलेंगी। तुम मेरे हो, यह वही कह सकता है, जो जिसको अपना कहता है, उससे आशा नहीं रखता। तो आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए, आत्मीयता के द्वारा प्रियता को जगाने के लिए चाह-रहित होना अनिवार्य है।

कोई कहे कि क्या चाह-रहित होने से हमारा जीवन रहेगा? तो भैया! चाह-युक्त प्राणी का जीवन होता ही नहीं। क्यों? जीवन तो उसे कहते हैं, जो पर से प्रकाशित न हो, पर के आश्रित न हो; और चाहयुक्त प्राणी कभी ऐसा नहीं हो सकता, जो पराश्रित न हो। इसलिए आत्मीयता से प्रियता जगाने के लिए चाह-रहित होना है। इसी बात को हम भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने जीवन में रख सकें, इसलिए यह बात कही गई, कि भाई! निष्कामता से उदित विश्राम, असंगता से प्राप्त स्वाधीनता अपने लिए उपयोगी है और आत्मीयता से जागृत प्रियता प्रेमास्पद के लिए उपयोगी है। जिन भाई-बहनों की अपने प्रेमास्पद को रस देने की उत्कट लालसा है, वे ही आत्मीयता को सजीव सुरक्षित रख सकते हैं, उन्हीं में प्रियता जागृत होती है। प्रियता जागृत करने का प्रयास तो एकमात्र आत्मीयता स्वीकार करना ही है। प्रेमास्पद चाहे जैसे, चाहे जिसको प्रेम प्रदान करें; इसके लिए उन पर कोई विधान लागू नहीं है।

मुझे इस सम्बन्ध में कोई नई बात नहीं कहनी है। आप ही गम्भीरता से विचार करें। कोई आपसे कहे कि हम अपके मित्र हैं, फिर कहे-साहब मोटर हमें दे दीजिये। तब आप क्या सोचेंगे? अरे भाई मोटर इन्हें माँगनी थी तो पहले कह देते, इतनी बात क्यों बनाई? आपको हर्ष नहीं होगा अगर आपको कोई सरलता से कहे, क्या मोटर हमें दे सकते हैं? तो आपको बिल्कुल क्षोभ नहीं होगा, चाहे हाँ कह दें, चाहे ना कह दें। तो भैया! आप स्वयं बताएँ, जो कुछ भी आपसे चाहने लगता है, क्या वह आपको अपना मालूम होता है? क्या आप उसके होकर रह सकते हैं? कभी नहीं। इसलिए भाई! आत्मीयता को सजीव बनाने के लिए आस्था तो है ही, किन्तु चाह-रहित होना भी अनिवार्य है। उसका महामंत्र है, चाह-रहित होना। हमें जो कुछ मिला है वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है। आप किसी एक बात पर विचार कर लें; जब मिला हुआ ही हमारा नहीं है, तो अप्राप्त की कामना क्यों करेंगे? जब मिला हुआ ही हमारे लिए नहीं है, तो और माँगकर क्या करेंगे? यह बात हम और आप अपने जीवन में अपनी करके रखना चाहें तब मेरा ऐसा विश्वास है कि चाहे हम कितने ही पतित हैं और चाहे कितने ही असमर्थ हैं, यह पतित होना और असमर्थ होना हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकता; यदि हम इस एक

बात को अपना लें कि हमें जो कुछ मिला है वह हमारा नहीं है, हमारे लिए नहीं है।

चाहे जिसे दे दो बाबू! हम तो लोगों से कहते हैं कि तुम अपनी स्त्री को दे दो, अपने लड़के को दे दो; पर अपना करके अपने पास कुछ मत रखो। आप जानते हैं? जब देते हैं, तब देने के बोझ से लाद देते हैं और बदले में न जाने क्या-क्या आशा रखते हैं! तो भैया, जब तक यह रोग है कि हम अपने पास अपना करके कुछ भी रखना चाहते हैं और जो कुछ हमें मिला है वह हमारे लिए उपयोगी है, तब तक मेरा ऐसा विश्वास है कि वैधानिक दृष्टिकोण से आत्मीयता सजीव नहीं होगी। जब आत्मीयता ही सजीव नहीं होगी, तो प्रियता न किसी अभ्यास में है, न किसी दर्शन (Philosophy) में। प्रियता की अभिव्यक्ति यदि है तो आत्मीयता में और रस की यदि अभिव्यक्ति है तो प्रियता में। इस दृष्टि से आत्मीयता से जागृत प्रियता में ही जीवन की पूर्णता है, ऐसा मेरा विश्वास है।

॥ हरि ॐ ॥

28 दिसम्बर, 1959, सायंकाल

प्रवचन

12

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

मानव जीवन साधक का जीवन है। मानव कहो अथवा साधक कहो, एक ही बात है। शरीर का नाम साधक नहीं है, आत्मा का नाम साधक नहीं है और ब्रह्म का नाम भी साधक नहीं है। इससे यह विदित होता है कि साधक न शरीर है, न आत्मा, न ब्रह्म। तो फिर कौन है? जिसने शरीर में ममता स्वीकार कर ली है, किन्तु फिर भी जिसमें तत्त्व की जिज्ञासा है और अनन्त की प्रियता है। यदि ममता के रहते जिज्ञासा पूरी हो जाती, प्रियता जागृत हो जाती तब तो कोई प्रश्न ही जीवन में न आता। ये जितने प्रश्न आते हैं, वे इसलिए आते हैं कि ममता के रहते हुए न तो जिज्ञासा ही पूरी होती है और न प्रियता ही जागृत होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक भाई तथा बहन पर इतना ही दायित्व है कि उसने जो मिली हुई वस्तु को अपना मान लिया है, न माने। उसके पश्चात् जिज्ञासा स्वत: पूरी हो जाएगी। ममता के नाश से समता की अभिव्यक्ति स्वत: होती है। समता की अभिव्यक्ति के लिए आपको प्रयास नहीं करना है। सारा प्रयास एकमात्र ममता के नाश में है। ममता के नाश में भी किसी वस्तु का नाश नहीं करना है, उसका दुरुपयोग भी नहीं करना है, केवल इतना निर्णय करना है कि जिस वाणी से हम बोलते हैं, वह हमारी नहीं है, जिन स्रोत्रों से हम सुनते हैं, वे हमारे नहीं हैं। आप सोचिये, क्या यह स्वाधीनता भी हम सबको नहीं मिली है? यदि मिली है तो ममता का नाश और समता की अभिव्यक्ति युगपत् है। किन्तु हमें उस समता में भी रमण नहीं करना है। तब अपने आप अवस्थातीत दिव्य जीवन में प्रवेश हो जाता है, और फिर स्वत: चाहे प्रेमास्पद की ओर से, चाहे प्रेमी की ओर से प्रियता का एक स्रोत प्रवाहित होने लगता है। वह प्रियता स्वत: सिद्ध है।

अब केवल इतनी सी बात रह गई कि यदि आप ममता का त्याग कर सकते हैं, तो कर लीजिए, और कोई भाई-बहन यह अनुभव करें कि हमारे लिए तो यह भी संभव नहीं है तो ममता जीवन में न रहे, इसकी केवल आवश्यकता अनुभव कीजिए। जब साधक यह आवश्यकता अनुभव करता है कि मेरे जीवन में ममता न रहे, तब अपने आप, बिना माँगे ममता के नाश की

सामर्थ्य आती है, अथवा ममता नाश हो जाती है। किन्तु सावधानी इस बात में रखनी है कि ममता के नाश का एक विशेष रस आता है जीवन में, निर्विकारता का रूप धारण करके, उसमें हम रमण न करें; क्योंकि निर्विकारता हमारी माँग नहीं है। फिर स्वाधीनता आती है जीवन में। स्वाधीनता भी हमारी माँग नहीं है। परन्तु यह निर्विकारता और स्वाधीनता अविनाशी हैं, इनका नाश नहीं होता, इनका हम त्याग नहीं कर पाते। इनको अपनी माँग न मानने से आत्मीयता स्वतः जागृत होती है। उसी आत्मीयता में रस है।

आपने सुना होगा कि अम्बा कौशल्या एक दिन सुमित्रा से कहने लगीं कि, सखी! कोई मुझे समझा दे, मैं यह जानना चाहती हूँ कि राम का जो वन-गमन है, यह सच है कि झूठ है, मैं नहीं समझ पाती; क्योंकि राम, लखन और सीता मेरी आँखों के सामने लगे रहते हैं, हर समय; किन्तु फिर भी हृदय की दाह नहीं मिटती। सुना मैंने यह है, अनुभव मेरा यह है कि उनके देखने से तो दुःख नहीं रहता और बिना देखे प्राण नहीं रहते। किन्तु सखी! प्राण भी हैं, और दुःख भी है। इसलिए मुझे कोई समझा दे कि यह जो राम का वन गमन है, वह सच है कि झूठ?

आपने देखा होगा, जीवन में सदैव देखते हैं कि संयोग काल से ही वियोग की घड़ियाँ, जन्म से ही मृत्यु का प्रवाह निरन्तर चल रहा है; किन्तु उस पर हमारी दृष्टि नहीं जाती। हम देखते नहीं कि जब से बोलना आरम्भ किया है, तभी से मौन आने वाला है। अभी मिलन हुआ है, वियोग होने वाला है; आरम्भ हुआ है, अन्त होने वाला है। यह जो हमारी दृष्टि इस पर नहीं रहती, परिस्थिति पर नहीं रहती, उसका परिणाम यह होता है कि वियोग में भी संयोग की आशा लेकर जीते हैं। किन्तु जब साधक में आत्मीयता जागृत होती है, तब मिलन में वियोग और वियोग में भी मिलन रहता है। ऐसा नहीं है कि मिलन में वियोग न रहे और वियोग में मिलन न हो। अब आप विचार करें, कि जहाँ मिलन में वियोग है, वहाँ मिलन का जो रस है, क्या वह तृप्ति कराएगा? और, जहाँ वियोग में मिलन है, वहाँ वियोग का रस क्या अभाव में आबद्ध होने देगा? यही वह रस है, कि जहाँ मिलन में भी तृप्ति नहीं है और जहाँ वियोग में भी अभाव नहीं है। इस प्रकार का रस प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहन को वर्तमान में मिल सकता है। पर कब? इतनी-सी बात से कि जिस वस्तु पर हमारा अधिकार नहीं है, उसको हम अपना न मानें। हमारे अधिकार में नहीं है कि हम बोलते रहें, आपके अधिकार में नहीं है कि आप सुनते रहें।

तो बोलने और सुनने से जो तादात्म्य स्वीकार कर लिया है और सुनने को जो अपनी खुराक बना लिया है। यह ममता का कार्य है।

इस जाने हुए के प्रभाव से जब हम विचार करते हैं कि बोलने में जीवन है, तो न बोलने में क्या है? सुनने में जीवन है, तो न सुनने में क्या है? और सुनने और न सुनने से परे क्या है? तीन बातें–बोलने में क्या है? न बोलने में क्या है? और बोलने और न बोलने से परे क्या है? तो ऐसा मालूम होता है कि मानो जन्म–जन्मान्तर के, अनादि काल के जो बंधन थे, वे टूट गए। केवल इतनी–सी बात में कि बोलने, न बोलने में जीवन है, अथवा बोलने और न बोलने से परे? बस, जहाँ बोलने, न बोलने से परे दृष्टि गई, आप सच मानिए, उस अनन्त का अगाध प्रेम आपका आलिंगन करेगा और फिर इसका पता ही नहीं चलेगा कि मिलन है कि वियोग है, वियोग है कि मिलन है। प्रेम है कि प्रेमास्पद है, प्रेमास्पद है कि प्रेम है, इसका लेशमात्र भी पता नहीं चलेगा। परन्तु भैया! यदि आप बोलने में जीवन का अनुभव करते हैं, तो न बोलना अनिवार्य होगा और न बोलने में जीवन का अनुभव करते हैं, तो बोलना अनिवार्य होगा और न बोलने का सुख लेते हैं, तो बोलना अनिवार्य होगा। इसलिए न बोलने में जीवन है और न, न बोलने में जीवन है; बल्कि इन दोनों से परे है।

एक ऐसी आशा लेकर, एक ऐसी प्रतीक्षा लेकर कि मानो तुमसे मिलने के लिए तुम्हारा प्रियतम व्याकुलतापूर्वक तीव्र गति से आ रहा है परन्तु हमारी दृष्टि कभी बोलने में, कभी करने में तो कभी न बोलने में, तो कभी न करने में रहती है। तो भाई! करने से और न करने से, बोलने से, और न बोलने से, गति और स्थिरता से थोड़ा मुँह फेरो। जहाँ आपने मुँह फेरा कि सामने आपको अपने प्रेमास्पद से भिन्न और कोई दिखाई नहीं देगा। मेरा विश्वास है कि प्रेमास्पद महान् होकर प्रेमी से नहीं मिलता, महान् होकर तो तत्त्ववेत्ताओं से अभिन्न होता है; प्रेमी से तो प्रेमास्पद तुच्छ होकर मिलता है, अधीर होकर मिलता है, अपना होकर मिलता है, व्याकुल होकर मिलता है। ऐसा मालूम होता है कि न जाने ये हमारे बिना कितने व्याकुल थे!

इसलिए भाई! इतनी–सी जिम्मेदारी है। आप जो भी करते हैं, उसको तो, न करने में बदलते ही हैं। करना, न करने में न बदलता हो, ऐसा तो अनुभव किसी भाई–बहन का है नहीं। किन्तु अपने को न करने में बाँधो, न न करने में बाँधो और सही करके, नहीं करने में ठहर के, थोड़ा–सा मुँह फेरो। तो आपकी उस रस की माँग पूरी होगी। देखो भैया! निहाल कौन होगा? इस पर सोचो। निहाल वही होगा, जो पीड़ित है, और कोई निहाल नहीं होगा। और

करेगा कौन? जो उसका अपना है। अपना वही है, वह अपने से दूर नहीं है, अपने से अलग नहीं है। निहाल होने की जो उत्कट लालसा है, उसको करने और न करने में, शान्ति और गति ने शिथिल बना दिया है। आज हमें इस सत्संग-सप्ताह के उपलक्ष्य में यह विचार कर लेना चाहिए कि भाई, करने में उनकी पूजा है और न करने में उनकी प्रतीक्षा है। उनकी प्रतीक्षा उनसे मिलाने में सर्वदा समर्थ है, यह निर्विवाद सत्य है।

।। हरि ॐ ।।

29 दिसम्बर, 1959, प्रातःकाल

प्रवचन

13

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

जिसके होने में अविचल आस्था होती है, उसका होना सर्वदा सहज और स्वाभाविक होता है। यदि हम इस बात को स्वीकार करें कि आत्मीयता स्वीकार करने में न लेशमात्र पराधीनता है न असमर्थता ही है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक आत्मीयता प्राप्त हो सकती है। और उसके द्वारा अगाध-अनन्त नित-नव प्रियता जग सकती है। कोई दलील, युक्ति ऐसी हो नहीं सकती, जो हमें आत्मीयता से विमुख कर सके, वंचित रख सके। क्योंकि किसी को अपना मानने में हम पराधीन नहीं हैं। वे हमारे काम आ जाएँ, इसमें हम भले ही पराधीन हों; किन्तु हम उन्हें अपना मानते हैं, क्या इसमें हम पराधीन हैं? क्या इसमें असमर्थ हैं? आप देखेंगे कि जीवन में जितनी पराधीनता दिखाई देती है, उसके मूल में अपनी कामना-पूर्ति का प्रलोभन ही होता है। आत्मीयता स्वीकार करने के लिए इस प्रलोभन का कोई स्थान ही नहीं है कि हम आपको इसलिए अपना मानते हैं कि आप हमारे काम आ जायें। तब तो आप यह कह सकते हैं कि भाई! अपना मानना हमारे लिए सम्भव नहीं है। किन्तु हम आपके काम आ जायें, आप हमारा जो चाहें सो उपयोग करें, आप हमें प्यारे लगें, क्या हम इसमें भी पराधीन हैं? इसमें पराधीन नहीं हैं। हाँ, यदि ऐसा कहें कि हम यह चाहते ही नहीं कि कोई हमें प्यारा लगे। तब तो भाई! आत्मीयता स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं है। किन्तु यदि आप यह चाहते हैं कि कोई हमें प्यारा लगता-हम किसी को प्यारे लगते-यह कोई जरूरी नहीं है; किन्तु हमें कोई प्यारा लगता, तो इसके लिए आत्मीयता ही अचूक उपाय है।

कुछ लोग सोचते हैं कि प्रियता किसी महत्त्व के कारण जागृत होती है। किसी में जब विशेषता होगी, तब वह हमें प्यारा लगेगा। यह उन लोगों की बात है, जो अपने सुख के लिए किसी को प्यार करते हैं। भोगी का आकर्षण किसी न किसी महत्त्व पर निर्भर है। किन्तु प्रेमी का जो आकर्षण है, प्रेमी का जो खिंचाव है, वह किसी महत्त्व पर नहीं है। वह तो केवल आत्मीयता पर ही है। अपने होने से हमको प्यारे हैं। ब्रह्म होने से प्यारे हों, अनन्त होने से प्यारे हों-ऐसी बात नहीं है। यह जो आत्मीयता है, इस बात के लिए नहीं की जाती

कि साहब! वे परमात्मा हैं, इसलिए उन्हें अपना मानें; वे सर्व-समर्थ हैं, इसलिए उन्हें अपना मानें। आत्मीयता इस बात पर नहीं है। अजी! पतित पावन को सब अपना मानने को राजी हैं, दीन-वत्सल को सब अपना मानने को राजी हैं, सर्व-समर्थ को सब अपना मानने को राजी हैं। इसमें विशेषता की क्या बात है? पर हम तो उन्हें इसलिए अपना मानना चाहते हैं कि वे हमें प्यारे लगें! भाई, तुम्हे प्यारे लगे, ऐसा क्यों चाहते हो? तो उनको रस देने के लिए अन्य कोई उपाय है ही नहीं। आप विचार करके देखें; बल के द्वारा अपने से निर्बल पर विजय होती है, योग्यता के द्वारा अपने से अयोग्य पर विजय होती है, सौन्दर्य के द्वारा हम उसको आकर्षित कर सकते हैं, जिसमें हमसे कम सौन्दर्य हो। जिसमें अनन्त सौन्दर्य हो, अनन्त ऐश्वर्य हो, अनन्त माधुर्य हो, उसको रस देने के लिए किसी गुण विशेष की अपेक्षा नहीं होती। केवल इस बात की अपेक्षा होती है कि वे हमको प्यारे लगें! और किसी को प्यारा लगने के लिए इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है कि हम उसे अपना मानें।

इस दृष्टि से अगर आप विचार करके देखेंगे, तो आत्मीयता प्रेमास्पद को रस देने के लिए की जाती है; अपने कल्याण के लिए नहीं की जाती, अपनी सद्गति के लिए नहीं की जाती, अपने को कुछ मिलेगा, इसके लिए नहीं की जाती। क्यों? अपने लिए जो उपयोगी बात है वह तो प्रभु ने प्रत्येक भाई-बहन को बिना माँगे पहले दे ही दी है। अपने लिए कौन-सी उपयोगी बात है? दो बातें हैं-जो मिला है उसके सद्व्यय के द्वारा हम जगत् में उच्च स्थान पाते हैं और विवेकपूर्ण त्याग को अपनाकर हम स्वाधीनता पाते हैं, निजानंद पाते हैं।

ये दोनों बातें तो हमें ऐसी मालूम होती हैं कि अपने लिए हैं। किन्तु आत्मीयता के द्वारा जो प्रियता जागृत होती है, वह प्रियता उनको रस देती है। यद्यपि प्रियता जिसमें जागृत होती है, उसमें भी नीरसता नहीं रहती; क्योंकि प्रियता स्वभाव से ही रसरूप है। किन्तु प्रियता का रस प्रेमास्पद को ही मिलता है और वे ही इस रस के अधिकारी हैं। आप अपने निकटवर्ती प्रियजनों से पूछिये कि आप हमको बहुत प्यारे लगते हैं, लेकिन हमारे पास जो वस्तु है, वह हम आपको नहीं दे सकते। तो आपको तुरन्त उत्तर मिलेगा कि आपका प्यार भाड़ में जाय। जिन्हें बड़ा भारी गौरव हो अपनी स्त्री की आत्मीयता पर, वे जरा पत्नी से कहें कि देखिए, हमारे पास कपड़ा नहीं है, खाना देने को नहीं है, मधुरवाणी बोलने को नहीं है, हम तो आपको अपनी मानते हैं, आप

प्रसन्न हो जायें। वह कहेगी कि ऐसे निकम्मे पति की हमको जरूरत नहीं है। केवल प्रियतामात्र से रीझने में प्रभु ही समर्थ हैं।

आप विचार करके देख लें। केवल प्रियता-मात्र से रीझने में संसारभर की आप तलाश कर लीजिए, एक भी साथी आपको ऐसा नहीं मिलेगा, जो इस बात से सन्तुष्ट हो जाये कि साहब! हम आपको प्यार करते हैं, आप इतनी ही बात से सन्तुष्ट हो जायें। वे कहेंगे कि आप प्यार करते हैं, तो यह आपका बँगला हमारा बँगला है, आपकी मोटर हमारी मोटर है।

हमारे पास बहुत-से लोग आते हैं, दूर से देखते हैं कि इनके सम्पर्क में कौन-कौन से आदमी हैं। फिर सोचते हैं, कि स्वामी जी से प्रार्थना करें कि अब तो मानव-सेवा-संघ के प्रेसीडेंट बी० पी० सिन्हा हो गए हैं, हाईकोर्ट की जजी के लिए हमको लिख दें। वे हमारे पास इसलिए आते हैं कि अमुक अफसर स्वामी जी के पास आते-जाते हैं तो हमारा कन्फरमेशन हो जाये। सोचिए! एक समय था, जब साधुओं के पास लोग आशीर्वाद के लिए आते थे। आज ऐसा समय आ गया है कि वे साधुओं के पास सिफारिश के लिए आते हैं। भैया! संसारभर की आप खोज कीजिए। एक भी आदमी आपको ऐसा नहीं मिलेगा, जो आपको यह कहे कि हम आपको अपना मानते हैं, इतने मात्र से आप प्रसन्न हो जाइए। एक भी आपको नहीं मिलेगा। और जिसको आप समझते हो कि वह होगा, तो आजमा के देख लीजिए। इसलिए भाई, यह जो आत्मीयता है यह अपनी सद्‌गति के लिए नहीं है। यह आत्मीयता तो प्रेमास्पद को रस देने के लिए है। आप सोचिए, वे कितने भाग्यशाली होंगे, जिनसे प्रेमास्पद का रस मिलता होगा!

यदि यह आपकी माँग है कि जीवन किसी प्रकार उनके लिये उपयोगी हो जाता! उनका दिया हुआ विवेक अपने लिए उपयोगी हो गया, उनकी दी हुई वस्तु अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी हो गई; किन्तु हम उनके लिए कैसे उपयोगी हो सकेंगे? तो उसके लिए आत्मीयता अचूक उपाय है। आप इस बात की चिन्ता न करें कि हम साधारण तुच्छ प्राणियों को भला, यह अधिकार कहाँ है कि हम उस अनन्त को अपना कह सकें! भैया, सोचो तो सही! जो अनन्त को अपना नहीं कह सकता, वह किसको अपना कह सकता है, यह तो उन्हीं की सामर्थ्य है कि उन्हें हरेक अपना कह सकता है। संसार में तो आप हरेक को अपना नहीं कह सकते। अनन्त ही सामर्थ्य है कि वह सभी का है और सदैव सभी का है। इसलिए उसको अपना कहने में हिचको मत, डरो मत, यह विकल्प मत करो, कि हम उन्हें अपना नहीं कह सकते। क्यों नहीं अपना कह सकते? फिर किसको अपना कहेंगे, बताइए?

कोई और बता दीजिए, जिसको अपना कहें। आप जिसको अपना कहने चलेंगे, वह न जाने कितनों की ममता का पुञ्ज होगा। आपको एक भी जगह खाली नहीं मिलेगी, जिसका कोई मालिक पहले से न हो। कोई व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा, जिसके साथ अनेक लोगों की ममताएँ न चिपकी हों। वे ही तो एक ऐसे हैं, जो सभी के लिए हो सकते हैं। इसलिए इसमें बिल्कुल डरने की बात नहीं है, कि हमने कोई तैयारी नही की, हमारे पास कोई सामर्थ्य नहीं है, हममें कोई योग्यता नहीं है, हममें कोई पवित्रता नहीं है, इससे बिल्कुल डरने की बात नहीं है। हम चाहे जैसे हैं, पर उन्होंने हमें यह स्वाधीनता दी है कि जिसको चाहें अपना कहें, जिसको चाहें अपना न कहें।

आपने जब यह निर्णय कर लिया कि हम प्रभु को अपना मानेंगे, तो प्रभु में यह सामर्थ्य नहीं है कि वे यह कहें कि तुम हमको अपना मत मानो। क्यों? यह स्वाधीनता मानव-मात्र को मिली है। आप जिसे चाहें अपना कह सकते हैं और ममता के तोड़ने में कोई भी भाई, कोई भी बहन कभी भी पराधीन नहीं है। यह दूसरी बात है कि आप आत्मीयता जोड़ लीजिए, ममता अपने आप टूट जाएगी; आप ममता तोड़ लीजिए, आत्मीयता अपने आप जुड़ जाएगी। अगर आप यह कहें कि ममता को तोड़ना तो चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते। तो कोई बात नहीं; किन्तु इतनी बात तो आप मानते हैं कि आप ममता तोड़ना चाहते हैं, और आत्मीयता जोड़ना चाहते हैं? अगर आपने इतनी बात मान ली है, तो व्यथित हृदय से इतना ही कह दीजिए कि हे प्यारे! हम आपको अपना मानना चाहते हैं, पर मान नहीं पाते, हम ममता तोड़ना चाहते हैं, पर तोड़ नहीं पाते! व्यथित हृदय से इतना कहकर मौन हो जाइए। आपको पता भी नहीं चलेगा कि ममता कैसे टूट गई और आत्मीयता कैसे आ गई। क्यों? जो करना चाहते हैं आप, नहीं कर पाते, तो जो चाहना है, वही करना है, और कुछ करना नहीं है। देखिए, असमर्थ किसको कहते हैं? करना चाहे और न कर पाए। और असावधान किसे कहते हैं? कि जो कर सके और न करे। तो चाहे असावधानी के कारण और चाहे असमर्थता के कारण हम ममता तोड़ नहीं पाते, आत्मीयता जोड़ नहीं पाते, तो कोई चिन्ता की बात नहीं है; किन्तु ममता को तोड़ना चाहते हैं और आत्मीयता को जोड़ना चाहते हैं, यह जो आपकी चाह है, वह बनी रहे, सुरक्षित रहे, मजबूत हो जाये।

कोई भी चाह सुरक्षित कब रहती है? जब पूरी न हो और उसके साथ दूसरी कोई चाह न हो। एक ही चाह जब जीवन में रह जाती है, तो वह हमेशा सुरक्षित रहेगी। कब तक? जब तक पूरी न हो जाये। यदि हम ममता तोड़ना चाहते हैं, आत्मीयता जोड़ना चाहते हैं, तो उस चाह को सुरक्षित रहने

दें। नहीं तोड़ सके, कोई चिन्ता की बात नहीं; नहीं जोड़ सके, कोई चिन्ता की बात नहीं। परन्तु यह तोड़ने-जोड़ने की जो लालसा है, अभिरुचि है, वह बनी रहे। उसके बनाए रखने के लिए एक ही उपाय है कि कोई और कामना न हो। क्यों? जिस भूमि में बहुत-से बीज बोए जाते हैं, वह भूमि उन पौधों को मजबूत नहीं उगाती। कहीं एक ऐसी भूमि है, जिसमें एक ही बीज हो, तो कितना मजबूत उगेगा वह पौधा! यह हमारा और आपका जो व्यक्तित्व है, वह भी एक भूमि है।

अगर हमारे आपके व्यक्तित्व में केवल एक ही लालसा है कि ममता टूट जाती और आत्मीयता जुड़ जाती, तो सच मानिए, जिस समय एक ही लालसा जीवन में रह जाती है, तो वह अपने आप पूरी हो जाती है। और जब वह लालसा पूरी होती है, तब सचमुच यह नहीं पता चलता कि ममता हमने तोड़ी थी कि आत्मीयता हमने जोड़ी थी। यह जो ममता के तोड़ने का पता चलता है, यह जो आत्मीयता के जोड़ने का पता चलता है, यह अहंकृति ही है। वे तो परम भाग्यशाली हैं कि जिन्हें ऐसा भास होता है कि भाई, मैंने ममता तोड़ी नहीं, फिर न जाने कैसे टूट गई! मैंने तो आत्मीयता जोड़ी नहीं, फिर न जाने कैसे जुड़ गई। दोषों की निवृत्ति का भास न हो और गुणों की अभिव्यक्ति का भास न हो, तब समझना चाहिए कि निर्दोषता से एकता हो गई। जब तक साधक को यह मालूम होता है कि हमने इस बुराई को छोड़ दिया और उस भलाई को अपना लिया, तब तक तो सच बात ऐसी है कि न वह भलाई है न बुराई का त्याग है।

इसलिए जीवन में जो असमर्थता का अनुभव है, यह बड़ी भारी विकास की भूमि है; असमर्थता का चिन्तन नहीं, असमर्थता का अनुभव करना है। असमर्थता के अनुभव में तो एक पीड़ा है और असमर्थता के चिन्तन में पीड़ा नहीं होती, असमर्थता के बनाए रखने में पीड़ा नहीं होती। हम असमर्थ हैं, यह कोई बड़ी बात नहीं है। लेकिन जो कहते हैं कि उस असमर्थता का हमको अनुभव है या हम असमर्थता बनाए रखते हैं, वे असमर्थता-जनित सुख का भोग करते हैं। जिन्हें अपनी असमर्थता का अनुभव होता है, वे व्यथित हो जाते हैं। न जाने, 'उस निठुर' का यह स्वभाव क्यों है? लगातार चौबीस घण्टे भी वे किसी को व्यथित नहीं देख सकते।

अगर मैं अपने विश्वास की बात कहूँ, तो मेरा विश्वास यह है कि केवल व्यथा अल्प से अल्प काल भी नहीं रहती, केवल व्यथा। यह जो हमें और आपको जीवन में दु:ख दिखाई देता है, व्यथा दिखाई देती है, उस व्यथा के साथ-साथ किसी न किसी प्रकार के सुख का भोग रहता है। जब जीवन में

सुख का लेश भी नहीं रहता और केवल व्यथा रह जाती है, तब मेरा तो ऐसा ख्याल है कि जैसे सूर्य के उदय और अंधकार की निवृत्ति में काल की कल्पना नहीं हो सकती, उसी प्रकार केवल व्यथा का होना और विकास का होना बिल्कुल एक साथ है।

अब आप सोचिए, क्या हम आत्मीयता नहीं कर सके, इसकी व्यथा के भी अधिकारी नहीं हैं? ममता नहीं तोड़ सके, तो क्या इस व्यथा के भी अधिकारी नहीं हैं? अगर इस व्यथा के भी आप अधिकारी नहीं है, तो आपका अस्तित्व ही कहाँ सिद्ध होगा? आप विचार कीजिए। अगर हम और आप अपना कोई अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो उसमें कुछ न कुछ होना चाहिए। जो चाहते हैं, उसके न होने की व्यथा हमें उससे अभिन्न कर देती है, जो हमारी माँग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वर्तमान की वेदना में ही समस्त विकास है। इस दृष्टि से यदि हम स्वाधीनतापूर्वक आत्मीयता नहीं जोड़ सकते, तो आत्मीयता न होने की जो व्यथा है, उसे होने दें। वे परम सुन्दर सर्व-समर्थ होने के कारण सभी को अपनाते हैं और किसी को भी व्यथित नहीं देख सकते।

लोग कहेंगे कि सैंकड़ों आदमी दु:खी हैं। वे हमको दु:खी क्यों देखते हैं? तो आपके दु:ख का भोग और सुख का प्रलोभन है। उस प्रलोभन का नाश करने के लिए जीवन में दु:ख है। जिस समय सुख का प्रलोभन नहीं होगा, सुख का भोग नहीं होगा, उसी समय वह दु:ख जिसे आप दु:ख मानते हैं या अनुभव करते हैं, नहीं रहेगा, अपितु वहाँ दु:खहारी होंगे। वे कहेंगे-तुम मेरे हो। तुम कहोगे-नहीं, तुम मेरे हो। वे कहेंगे-तुम प्यारे हो। तुम कहोगे-नहीं, तुम प्यारे हो। यही अगाध अनन्त रस है और इसी में जीवन की पूर्णता है।

।। हरि ॐ।।

29 दिसम्बर, 1959, सायंकाल

प्रवचन

14

मेरे निजस्वरूप उपस्थित महानुभाव तथा भाई और बहन!

मानव-सेवा-संघ का उद्देश्य अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण है। मानव-सेवा-संघ की नीति में मानव का अर्थ केवल दो बातों में है-जिसकी कोई माँग है और जिस पर कोई दायित्व है। माँग उसे नहीं कहते, जो पूरी नहीं हो सकती और दायित्व उसे नहीं कह सकते, जिसे पूरा नहीं कर सकते। इस दृष्टि से इस मानव जीवन में असफलता के लिए, निराशा के लिए, हार मानकर बैठ जाने के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं है। अब विचार यह करना है कि हम सबकी माँग क्या है? इस पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि ऐसा कोई भाई नहीं, ऐसी कोई बहन नहीं जिसकी माँग विश्राम न हो, स्वाधीनता न हो और प्रेम न हो। हम सबको तीन बातें चाहिएँ-विश्राम चाहिए, स्वाधीनता चाहिए, और प्रेम चाहिए। किन्तु उनकी प्राप्ति के लिए हम पर दायित्व क्या है? दायित्व एक है, तीन नहीं। यह क्या है कि प्रत्येक भाई और बहन अपने जीवन में अपने जाने हुए-सुने हुए नहीं, माने हुए नहीं-अपने जाने हुए असत् का त्याग करे। यह दायित्व है।

असत् के त्याग का अर्थ क्या है? इस पर थोड़ा विचार कीजिये। जो भूल हम कर चुके हैं अथवा जिस भूल को हम भूल जानते हैं, अब उसे नहीं करेंगे। बस, इतना ही है अर्थ असत् के त्याग का। आप सच मानिये, चाहे हिन्दुस्तान का मानव हो अथवा किसी मजहब और सम्प्रदाय का मानव हो, एक बात सबके लिए स्वभाव सिद्ध है कि वर्तमान हम सबका निर्दोष है। किसी भाई से, किसी बहन से पूछा जाये कि तुमने क्या भूल की, तो वह भूल बताने से पहले की होगी, बताते समय की नहीं होगी। इस दृष्टि से यह देखा जाय, तो मैं नहीं कह सकता कि कोई भी भाई ईमानदारी से यह कह सके कि भाई, हम सदा से निर्दोष हैं। ऐसा नहीं कह सकता। कोई-न-कोई भूल हुई है। लेकिन ऐसा भी कोई भाई नहीं कह सकता, कोई बहन नहीं कह सकती कि हमारे जीवन में केवल भूल ही है। सर्वांश में दोषी कोई नहीं है, वर्तमान में दोषी कोई नहीं है। जो कुछ भूल हुई है, वह भूतकाल में हुई है। उस की हुई भूल को हम नहीं दोहराएँगे, इसी का नाम है-जाने हुए असत् का त्याग।

वह भूल क्या हुई है? मैं मूल रूप से कहूँगा कि तीन भूल हमसे हुई हैं। एक भूल तो यह हुई है कि हम मिले हुए बल का दुरुपयोग कर बैठते हैं। यह बड़ी भारी भूल हुई है। दूसरी भूल यह हुई है कि हम जाने हुए का अनादर कर बैठते हैं। तीसरी भूल यह हुई है कि जिसको केवल सुना है, जाना नहीं, उसमें अश्रद्धा कर बैठते हैं। ये तीन भूलें हमसे होती हैं। यदि हम आज इस बात का निर्णय कर लें कि जो बल हमें मिला है; उसका दुरुपयोग नहीं करेंगे, चाहे वह धन का बल हो, चाहे वह पद का बल हो, चाहे वह योग्यता का बल हो, चाहे वह ज्ञान-विज्ञान, कलाओं का बल हो; जो भी बल मिला है, उसका हम दुरुपयोग नहीं करेंगे। तो अपने आप क्या होगा? दुरुपयोग न करने का निर्णय करते ही या तो सदुपयोग होगा या आप कुछ काल विश्राम की स्थिति में होंगे, न करने की स्थिति में होंगे-आलस्य में नहीं, अकर्मण्यता में नहीं-या तो उस बल का सदुपयोग होने लगेगा या आप न करने की स्थिति अर्थात् विश्राम में होंगे। आप जानते हैं, कि इन दोनों का फल क्या होगा? सदुपयोग करने से सुन्दर समाज का निर्माण होगा। कैसे सुन्दर समाज का? क्या सबको सुन्दर बँगले मिल जाएँगे? क्या सबके पास बहुत-सा सामान हो जाएगा? क्या सबको आवश्यक वस्तुएँ मिल जायेंगी? भाई यह तो ऐसे हैं, जैसे बगीचे के फल खरीदो और छाया अपने आप मिले। एक ऐसे सुन्दर समाज का निर्माण होगा भाई मेरे, कि जिस समाज को न तो रानी के पेट से निकले हुए राजा की जरूरत पड़ेगी और न जनता के पेट से निकले हुए मिनिस्टर की जरूरत पड़ेगी।

सुन्दर समाज की पहचान क्या है? कि जिस समाज में बल का दुरुपयोग न होता हो। मै आपसे पूछता हूँ कि जिस समाज में बल का दुरुपयोग नहीं होगा, क्या वहाँ किसी के अधिकारों का अपहरण हो सकता है? त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। जब किसी के अधिकार का अपहरण नहीं होता, तो क्या राष्ट्र की आवश्यकता होगी? आप जानते हैं, राष्ट्र की आवश्यकता क्यों होती है? बल का दुरुपयोग बलपूर्वक रोकने के लिए। आप जानते हैं, मजहब की आवश्यकता क्यों होती है? अपने जाने हुए असत् का त्याग करने के लिए। आज हमारी दशा क्या है? आप किसी भी सुन्दर-से-सुन्दर देश को देखिए। क्या दशा है? क्या वहाँ राष्ट्र की आवश्यकता नहीं है, क्या मजहब का लेबल लगाते हुए, अपने जीवन में से अपने असत् का त्याग कर दिया है? यदि कर दिया है, तो निःसन्देह आपका जीवन आपके लिए और जगत् के लिए उपयोगी होगा, इसमें कोई सन्देह की बात नहीं। लेकिन भाई! आज जब हम वर्तमान वस्तुस्थिति को देखते हैं, तो

ऐसा मालूम होता है कि इधर राष्ट्र बलपूर्वक टैक्स लगाता जाता है और उधर टैक्स का एक्सपर्ट वकील कानूनी चोरी सिखाता चला जाता है। राष्ट्र की यह दशा हो गई है। राष्ट्र हमारे और आपके जीवन में से बल के दुरुपयोग की रुचि को न मिटा सका।

इसलिए आज इस भयंकर परिस्थिति में प्रत्येक भाई-बहन के सामने यह प्रश्न है कि सुन्दर समाज का निर्माण कैसे हो? सुन्दर समाज का निर्माण किसी राष्ट्र के द्वारा कभी हुआ नहीं, होगा नहीं, हो सकता नहीं। वह होगा कब, जब हम और आप, प्रत्येक वर्ग के भाई और बहन इस बात का निर्णय कर लें कि इस क्षण से हम बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। स्वतः सुन्दर समाज का निर्माण हो जाएगा। इस पर बुद्धिमान मानव एक दलील करते हैं कि क्या कभी आज तक ऐसा हुआ है? मैं आपसे पूछता हूँ, आज तक जो हुआ है, वह कभी रहा है? अजी आज तक ऐसा हो जाता, तो जरूरत नहीं होती मानव-सेवा-संघ की। आप कहेंगे-आप ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं, जो कहते हैं कि अब ऐसा होगा? हम आपसे पूछते हैं, क्या आपको सुन्दर समाज नहीं चाहिये? क्या आपको धोखा देने वाला साथी चाहिये, आपको बेईमान साथी चाहिये? ईमानदारी से आप कहेंगे, नहीं चाहिये। तो आज की जो आवश्यकता है, वही न भविष्य की उपलब्धि है। इसलिए भाई मेरे! निःसन्देह रूप से मेरा यह अविचल विश्वास है कि यदि हम बल का दुरुपयोग नही करेंगे तो सुन्दर समाज का निर्माण अवश्य होगा। यह सुन्दर समाज का निर्माण किसी विधान से नहीं होता, यह किसी दूसरे के द्वारा नहीं होता। जिस समाज के व्यक्ति इस बात पर दृष्टि रखते हैं कि हम सुन्दर समाज का निर्माण करेंगे, उसका अवश्य हो जाता है।

इसके लिए मानव-सेवा-संघ ने एक सत्संग-योजना बनाई है। उसके कई रूप हैं। पहला रूप है कि हम सोने से पहले और जगने के बाद व्यक्तिगत रूप से अपने विवेक के प्रकाश में अपने जीवन को देखें और हमें जो अपनी भूल मालूम हो, उसको छोड़ दें। उसके बाद कुटुम्बीजनों के साथ मिलकर, परस्पर में स्नेह को सुरक्षित रखते हुए, आदर और प्यार को सुरक्षित रखते हुए, इसी सम्बन्ध में चर्चा करें और अपनी तरफ से इस प्रकार की चर्चा करें कि हमारे द्वारा अगर आपको कोई तकलीफ हुई हो, आपको दुःख हुआ हो, तो हम उस भूल को मानने को राजी हैं। इसका नाम है-पारिवारिक सत्संग और फिर सामूहिक सत्संग-सप्ताह में एक दिन, पन्द्रह में एक दिन, महीने में एक दिन और फिर बड़े-सत्संग-समारोह, जैसा कि यहाँ के

प्रेमी-जनों ने किया। तो यह जो सत्संग-योजना है, वह राष्ट्र का काम भी पूरा कर देगी और मजहब का काम भी पूरा कर देगी। क्यों? अपनी दुष्टि से जाना हुआ जो अपना दोष है, उसकी निवृति हो सकती है। लेकिन दूसरे का बताया हुआ जो दोष है, सम्भव है कि वह हमारे जीवन में उतरे अथवा न उतरे, हम उसे स्वीकार करें अथवा न करें, किन्तु जब हम अपना जाना हुआ दोष देखेंगे, तो उसका त्याग कर सकते हैं।

इस तरह से सज्जनो! सत्संग-योजना चरितार्थ करने की भावना से यहाँ सत्संग-सप्ताह मनाया गया और जो लोग उसमें समिलित हुए, वे स्वयं सोचेंगे इस बात को, कि यह जीवन का कितना आवश्यक अंग है! यदि आपको अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण अभीष्ट है, तो प्रत्येक घर में यह सत्संग-योजना चरितार्थ होनी चाहिये, उतनी ही आवश्यकता को लेकर, जितनी आवश्यकता को लेकर आप सब लोग बैठकर भोजन करते हैं, निद्रा लेते हैं। आप जानते हैं कि भोजन करते-करते भी शरीर नहीं रहेगा, सोते-सोते भी शरीर नहीं रहेगा। लेकिन सत्संग के द्वारा हम सब विश्राम पाएँगे, स्वाधीनता पाएँगे, प्रेम की जागृति होगी। यह जो विश्राम है, वही सामर्थ्य का प्रतीक है। यह जो स्वाधीनता है, वही अमरत्व और चिन्मय जीवन का प्रतीक है और यह जो प्रेम है, वही अगाध-अनन्त नित-नव रस का प्रतीक है। ऐसा मूल्यवान सत्संग क्या हम लोग नहीं अपना सकते हैं। अवश्य अपना सकते हैं।

इसलिए सज्जनो! सत्संग-योजना को जीवन में चरितार्थ करने के लिए हम और आप तत्पर हो जाएँ। आप कहेंगे कि अगर हमने बल का दुरुपयोग नहीं किया, तो विश्राम से क्या मिलेगा? आप सोचिए, जैसे सत्य बोलने से परस्पर में विश्वास बढ़ेगा और न बोलने से यह होगा कि इन्द्रियों की शक्ति अपने-आप मन में विलीन होगी, मन की शक्ति अपने आप बुद्धि में विलीन होगी, बुद्धि सम होगी। उसका नाम है योग। उस योग में, आप जानते हैं क्या बात है? सामर्थ्य है, शक्ति है। किस प्रकार की शक्ति है? अगर आप जिज्ञासु हैं, तो उस योग में से स्वत: विचार कर उदय होगा और आपकी जिज्ञासा पूरी हो जाएगी। यदि आप भौतिकवादी हैं, तो उसी योग में से सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होगी और आप कर्त्तव्य-निष्ठ हो जाएँगे, और अगर आप भक्त हैं, आस्तिक हैं, तो उसी योग में से विरह की जागृति होगी और आप को प्रेम की प्राप्ति हो जाएगी। इस दृष्टि से यह निर्विवाद सत्य है कि बल का दुरुपयोग न करने से अकर्त्तव्य का नाश होने से साधनपरायणता आएगी; और आसक्ति का नाश होने से परम प्रेम की अभिव्यक्ति होगी।

बल के दुरुपयोग न करने का निर्णण आपने किया, बल का सदुपयोग स्वतः हुआ। जब बल का सदुपयोग होने लगे, तो उसका अभिमान मत करना और उसको सुख के प्रलोभन को रखकर मत करना। यह मत सोचना कि हम बल का सुदपयोग करते हैं, उसके बदले में हमें सुख मिलेगा और उसका यह अभिमान मत करना कि हम बल का सदुपयोग करते हैं। क्यों? अभिमान करने से गुण, दोष हो जाता है; महदूदियत आ जाती है; परिच्छिन्नता आ जाती है। और जहाँ परिच्छिन्नता आती है, वहाँ अनेक दोष अपने आप आ जाते हैं। एक बात। दूसरी बात यह है कि व्यक्तित्व के मोहवश, व्यक्तित्व के मोह को बढ़ाने के लिए, कि हमारी प्रतिष्ठा हो जाये, कि हमको सम्मान मिल जाये, ख्याति हो जाये-इस भाव को लेकर, इस नाते मत करना। अगर आप भौतिकवादी हैं, तो विश्व के नाते करना; अगर आप अध्यात्मवादी हैं, तो आत्मा के नाते करना; यदि आप आस्तिक हैं तो प्रभु के नाते करना। यह नियम है कि जिसके नाते कार्य होता है अथवा करते हैं, कर्ता कार्य के अन्त में उसी की प्रीति हो जाता है। यह बड़ी ही सुन्दर बात है। विचार करें, एक गिलास पानी पिलाने से प्रेम की प्राप्ति हो जाती है। कब? यदि वह देह के नाते से नहीं किया गया हो, तब; यदि वह सुख के प्रलोभन के नाते से पानी न पिलाया गया हो, तब। विश्व के नाते से अगर आप पिलाएँगे, तो आपको विश्व-प्रेम मिलेगा; आत्मा के नाते अगर आप पिलाएँगे, तो आपको आत्मरति मिलेगी; और प्रभु के नाते से अगर आप पिलाएँगे, तो आपको प्रभु-प्रेम मिलेगा। आपको मिलेगा प्रेम। आप जानते हैं, प्रेम का जिसमें उदय होता है, उसके लिए भी रस-रूप होता है और प्रेम जिसके प्रति होता है, उसके लिए भी रसरूप होता है। इस दृष्टि से जब जीवन में प्रेम की जागृति होगी, तो आपको जीवन में एक-मात्र नित-नव रस-ही-रस होगा। यही अपना कल्याण है।

इसलिए भाई मेरे! एक दायित्व जो आज हमारे और आपके ऊपर है कि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग अवश्य करेंगे, इसके लिए हम लोग पूरी शक्ति लगाकर तत्पर हो जायें। एक और बात यह है कि कल्पना करो, आपने निर्णय कर लिया कि हम अपने जाने हुए असत् का त्याग करेंगे और किसी कारण न कर सके। नहीं कर सकते हैं, ऐसा नहीं है। यहाँ मैं आपको बता दूँ सिद्धान्त रूप से, वैधानिक दृष्टि से यह नियम है कि जाने हुए असत् का त्याग प्रत्येक भाई, प्रत्येक बहन कर सकती है। उस पर भी कल्पना करो कि आप नहीं कर सके, तो न करने की यदि व्यथा आपके जीवन में है, तो आप सच मानिये, उस जाने हुए असत् के त्याग की सामर्थ्य आ जाएगी। तो

दो बातें हमारे साथ रहीं-त्याग करें अथवा उसके न करने से पीड़ित रहें। यह जो पीड़ा है न पीड़ा, जिससे हम सब लोग डरते हैं, सच पूछिये तो यही विकास की भूमि है। क्यों? वर्तमान की जो वेदना है, वही भविष्य की उपलब्धि होती है, भविष्य की सत्ता होती है।

इसलिए भाई! मैंने कभी किती किताब में लिखाया था कि जीवन की दो ही अवस्थायें सार्थक हैं-या तो व्याकुलता की अग्नि जलती रहे; अथवा आनन्द की गंगा लहराती रहे। इसलिए आज हमारे और आपके सामने यह मानव-जीवन का एक मौलिक प्रश्न है कि हम मिले हुए बल का दुरुपयोग नहीं करेंगे। अब एक बात और सोच लीजिये। बल का उपयोग जीवन में है क्या? सबल के प्रति आप बल का उपयोग नहीं कर सकते, समान बल के प्रति आप बल का उपयोग नहीं कर सकते। आप विचार करके देखें। आपसे कोई सबल आपको हानि पहुँचा दे, तो आप उसको वीर नहीं कहेंगे। बल का उपयोग ही निर्बल के साथ है, चाहे दो देशों के बीच की बात हो, चाहे दो वर्गों के बीच की बात हो, चाहे दो व्यक्तियों की बीच की बात हो। बल का उपयोग अगर आप करेंगे, उसका इस्तेमाल तो निर्बल के साथ होगा। तो मैं आपसे पूछता हूँ, आप और हम सबल से क्या आशा रखते हैं? विनाश की या रक्षा की? आप विचार कीजिये। किसी भाई के हृदय में यह बात नहीं आयेगी, किसी बहन के हृदय में यह बात नहीं आएगी कि हमसे सबल हमारा विनाश करे। इससे भी यह सिद्ध हो गया कि बल निर्बल की धरोहर है। जब हमारे पास जो बल है वह निर्बल की धरोहर है, तो हमें उस बल का दुरुपयोग न करने की प्रतिज्ञा अवश्य कर लेनी चाहिये, समस्त दोषों का नाश अपने आप हो जाएगा।

दूसरी बात मुझे यह निवेदन करनी थी कि जो आप जानते हैं उसका आप अनादर न करें। कौन-से भाई यह नहीं जानते, कौन-सी बहन यह नहीं जानती कि जो वस्तु आज हमारे पास है, वह आगे नहीं रहेगी, जो पहले थी, वह आज नहीं है? जागृत का सारा साम्राज्य स्वप्न में नहीं है, स्वप्न का सारा साम्राज्य सुषुप्ति में नहीं है, सुषुप्ति की जड़ता समाधि में नहीं है, समाधि का रस असंगता में नहीं है; और असंगता की स्वाधीनता प्रेम की जागृति में नहीं है। कौन नहीं जानता? सब जानते हैं। इसलिए भाई! यह जो हमारा-आपका जाना हुआ है, उसका अनादर न करें। उसी प्रकार सुने हुए प्रभु में, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप श्रद्धा करें, मैं यह नहीं कहता हूँ कि आप उसको मान लें, आप न मानें, तो उसे हमारा होकर रहना पड़ेगा, बड़ा आनन्द! लेकिन यह

अवश्य कहता हूँ कि सुने हुए प्रभु में अश्रद्धा न करें। यदि आप सुने हुए प्रभु में अश्रद्धा नहीं करेंगे, तो श्रद्धा जागृत होगी; यदि आप जाने हुए का अनादर नहीं करेंगे, तो विचार का उदय होगा; यदि आप मिले हुए का दुरुपयोग नहीं करेंगे, तो कर्त्तव्यपरायणता आएगी। कर्त्तव्यपरायणता, असंगता और आत्मीयता के आने से जीवन की पूर्णता होगी, यह निर्विवाद सत्य है।

✦✦✦❖✦✦✦

जीवन–पथ

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।